वर्ष ७, अंक ६

श्रीकृष्णाय नमः

फाल्गुण पूर्णिमा १९८९

वार्षिक चन्दा ३)

सम्पादक—
म० कृष्णानन्द, भूमानन्द

एक प्रति ।)

विषय सूची

नं०	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश		
२.	भगवद्भक्ति (ले० श्रीस्वामी भोले बाबा जी		१६१
३.	ज्ञानभूमि (ले० महात्माराम		१६२
४.	मैं कौन और क्या हूं (कविता) (ले० हन्सी रूपराम जी बनस्थी		१६८
५.	पुरुषार्थ (ले० पुरोहित रामस्वरूप जी शर्म्मा		१ २
६.	रजनी (कविता) (ले० बी० एल० सराफ बी० ए०		१७३
७.	मानव कर्म तथा भगवान् की पूजा (ले० श्री मोतीलाल जी केजड़ीवाल		१७५
८.	तन्मयता (कविता) (ले० श्रीमती ब्रजकुमारी 'प्रभाकर'		१८०
९.	भक्त माधवदास जी (ले० श्री मुन्ना प्रसाद जी श्रीवास्तव		१८०
१०.	प्रभु महिमा [कविता] (ले० श्री शान्ति स्वरूप जी वर्म्मा		१८५
११.	प्रार्थना		१८६
१२.	योगसाधन (ले० श्रीस्वामी शिवानन्द जी		१८६
१३.	श्रुतिसार		१८९
१४.	भजन		१९१

REG DNo. L 2077

भक्ति प्रेस में मिलने वाली पुस्तकें।

१.	भवगद्गीता संस्कृत तथा भाषा टीका सहिता	मूल्य	॥=)
२.	भगवद्गीता दशम अध्याय पर्यन्त ...	,,	।=)
३.	वेदोपनिषद्		।)
४.	अष्टोत्तरशतमन्त्रमाला	,,	।)
५.	ज्ञानधर्मोपदेश	,,	।।)
६	भक्ति ज्ञान योग संग्रह	,,	=।।)
७.	सत्य शब्द संग्रह (गुटका)	,,	।)
८.	सत्य शब्द संग्रह	,,	।=)
९.	शब्दसंग्रह	,,	।)
१०.	सारसंग्रह	,,	।)
११.	भाषा फक्किका प्रकाश	,,	।=)
१२.	मनुस्मृति सार	,,	=)
१३.	भक्ति चिन्तामणि	,,	।=)
१४.	भगवद्भक्तांक	,,	॥=)
१५.	भगवदंक	,,	॥)
१६.	गवांक	,,	।)
१७.	महात्मांक	,,	।)

नोटः-एक रुपये से कम मूल्य की पुस्तक मंगाने वालों को डाक महसूल सहित टिकट भेजने चाहियें।

मिलने का पताः-

श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

मुद्रक तथा प्रकाशक भगवानन्द ब्रह्मचारी "भक्ति प्रेस" श्री भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी।

श्रीरामके चरणोंमें भरत

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष ७ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, फाल्गुन पूर्णिमा, मार्च १९३३ | अंक ६ पूर्ण संख्या ७८

वेदोपदेश

यस्तिष्ठति चरति यश्च वंचति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ १ ॥

जो, बैठा है जो चलता है, जो किसी को ठगता है, जो छिप कर घूमता है, जो इधर उधर होता है, जिस बात को दो मनुष्य एकान्त में विचारते हैं, वह सब तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ १ ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २ ॥

जिस के वश में सब कुछ है, जो सब का ईश्वर है, जिस में सब प्रतिष्ठित हैं, उस प्राण को नमस्कार है। प्राण अपान व्यान उदान समान यह सब वायु के भेद हैं ॥ २ ॥

कालोऽवै दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवी रुत ।
कालोऽहं भूतं भव्यं चेषितं वितिष्ठते ॥ ३ ॥

काल ने इस द्युलोक को उत्पन्न किया, काल इस पृथिवी को उत्पन्न करता है काल में भूत भव्य विद्यमान रहता है ॥ ३ ॥

काले मनः काले प्राणः कालेनाम समाहितम् ।
कालेन सर्वनन्दन्ति आगतेन प्रजा इमाः ॥ ४ ॥

मन, प्राण, नाम यह तीनों काल में रहते हैं अर्थात् हुये काल से सब प्रजा आनन्दित होती है ॥ ४ ॥

इमं च लोकंपरमं च लोकं पुण्यांश्च लोकानविधृतीह पुण्या ।
सर्वांलोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमानु देवः ॥ ५ ॥

इस लोक को, परलोक को, और पुण्य लोकों को, पुण्य धारणाओं को, सब लोकों को अपने ब्रह्म को जीत कर, देव काल चेष्टा करता है ॥ ५ ॥

भगवद्भक्ति

[लेखक श्री पूज्य स्वामी भोले बाबा जी]

कथा विभीषण की ।

विभीषण जी विश्रवा के पुत्र और पुलस्त के पौत्र ऐसे परम भक्त थे कि शास्त्रों में परमभगवत लिखे गये हैं और प्रभात ही उनका नाम लेने से मंगल और कुशल होता है। बालयावस्था से ही इनकी भगवच्चरणों में प्रीति थी जब इन्होंने अपने भाई रावण और कुंभकर्ण के साथ तप किया तो वरदान के समय ब्रह्मा और शिवजी से भगवद्भक्ति मांगी। लंका में उनका चरण रावणादि राक्षसों की सम्पत्ति और आयुबल का कारण था, इसलिये जब ही इन्होंने रावण का त्याग किया तब ही तुरन्त लंका पर विध्वंस आ पहुंचा और रावण आदि सब राक्षस मृत्यु के ग्रास हो गये।

हे मंसाराम ! सूक्ष्म वृत्तांत यह है कि जब रघुनन्दन महाराज की सेना समुद्र के किनारे पर पहुंची तो रावण ने अपने सब मंत्रियों से मंत्र पूछा। विभीषण, जो धर्म और नीति के ज्ञाता थे, कहने लगे कि कुशल तो इसी में है कि सीता जी को भगवत् के अर्पण करो, विनय सहित चरण गहो और

सचिव करेो, नहीं तेा विपुल बढ़ने से लंका की, तुम्हारी और सब राक्षसों की कुशल नहीं है. रावण को यह मंत्र अच्छा न लगा, उसने क्रोध करके राज सभा में विभीषण जी के लात मारी और कहा कि जिसका तू पक्ष लेता है, उसीके पास जा विभीषण जी ने फिर भी बन्धुता की नीति से उसके कल्याण की शिक्षा दी परन्तु जब सब प्रकार से उसे भगवत् से विमुख निश्चय कर लिया, तब वे उसका त्याग करके भगवच्चरणों की शरण में चले। राह में इस प्रकार मनोरथ करते जाते थे। "अहा! आज मैं उन चरणकमलों को दण्डवत् करूंगा कि जो नरण ब्रह्मा, शिव आदि के भी इष्टदेव हैं और उस रूप अनूप को देखूंगा कि जिसका योगी जन समाधि लगा कर ध्यान करते हैं।"

जब यह समुद्र के इस पार आये तो श्रीरघुनन्दन स्वामी को समाचार पहुंचा। विनय निवेदन होने पर उन्होंने आने की आज्ञा दी। सुग्रीव ने विनय किया कि शत्रु का भाई है, न जाने उसके मन में क्या है! अच्छा यह है कि बाँध लिया जाय। रघुनन्दन स्वामी ने हंस कर कहा कि यद्यपि तुमने राजनीति की बात कही है परन्तु मेरा प्रण शरणागत के भय को दूर करने का है. जो कोई दोनों लोकों के समस्त पापों में फंसा हो और भयभीत होकर मेरी शरण आए एक बार यह कहता है कि मैं तुम्हारा हूं. उसी घड़ी दोनों लोकों के भय से निर्भय कर देता हूं. तो जो शरण आया है, वह यदि बांधा जाय तो मेरे प्रण में भंग होगा और यदि कपट करके आया है, तो भी कुछ चिन्ता नहीं है क्योंकि लक्ष्मण जी एक क्षण में सारे संसार के राक्षसों का संहार कर सकते हैं, इसलिये सब प्रकार से उसका आना उचित है।

हे मंसाराम! भगवान् के ये वचन सुन कर हनुमान अङ्गद और जाम्बवन्तादि दौड़े और बड़े सन्मान से विभीषण को ले आये, विभीषण ने दूरसे ही धनुषबाणधारी के शोभायमान मुख की शोभा देख कर दोनों लोकों के दुःख को विदा किया और साष्टाँग दण्डवत् करके अति दीनता से पुकार कर ये शब्द कहे हे शरणागत वत्सल! शरण है!' शरणपाल महाराज इन शब्दों को सुनते ही आसन पर से उठे और विभीषण को छाती से लगा लिया। पश्चात् वार्तालाप होने पर यद्यपि भगवद्दर्शन प्राप्त होने से विभीषण जी को संसार के विषय की कोई कामना नहीं रही, फिर भी दर्शन करने के पहिले जो चाहना उनके मन में थी, उसका पूर्ण कारण भगवत् ने निश्चय समझ कर लंका का वह राज्य जिसका रावण ने हजारों बार अपने मस्तक भेंट करके शिवजी से पाया था, उसी घड़ी विभीषण को प्रसन्न होकर दे दिया, और समुद्र का जल मंगा कर राज्य तिलक कर दिया। रावण के वध होने के पीछे जब विभीषण जी लंका का राज्य करने लगे, तो वही लंका जो पहिले पाप और पातकों से भरी हुई थी, वह धर्म और भक्ति का रूप हो गयी।

विभीषण जी को राम नाम में पूर्ण विश्वास था। एक बार किसी सौदागर का जहाज समुद्र में चलने से रुक गया। जहाज़ के मालिक ने अपने मन्त्रियों के कहने से एक आदमी को समुद्र की भेंट करके समुद्र में डाल दिया। वह बिचारा डूबता, उछलता, बहता हुआ लंका के किनारे जा लगा। वहां के लोग उसको विभीषण जी के पास ले गये। विभीषण जी ने इस विश्वास से कि ऐसा ही आकार और स्वरूप मेरे स्वामी का है, उसको भगवद्रूप जाना और प्रेम से सेवा पूजा करके सिंहासन पर बैठाया, बड़े सन्मान से रक्खा। उस आदमी ने राक्षसों के संग से डर कर नित्य विदा मांगी तब

विभीषण जी ने उसको बहुत सन्मान से विदा किया और समुद्र से पार होने के लिये उसके भाल में राम नाम लिख दिया। वह मनुष्य उसी रामनाम की नौका पर चढ़ कर समुद्र में ऐसे सुख से चला कि जहाज में भी ऐसा सुख नहीं था। संयोगवश वह उसी जहाज के निकट पहुंचा और जहाज वालों ने उसे जहाज पर चढ़ा लिया। उसने सब वृत्तान्त कहा और विभीषण जी की भक्ति और रामनाम की महिमा वर्णन की। वे सब लोग विश्वास युक्त हुए और उस नाम को जप कर कृतार्थ हो गये। निश्चय रघुनन्दन स्वामी का यह वह नाम मंगल है कि जिसके प्रभाव से शिला समुद्र पर तैर गयीं और जितने पातकी इस संसार से पार हुए हैं, उनकी तो कुछ गिनती ही नहीं यह ही समझ कर विभीषण जी ने भी उसके भाल पर रामनाम लिख दिया था कि करोड़ों महापातकी संसार घोर समुद्र से पार हो गये, तो एक मनुष्य का छोटे से समुद्र से पार होने की क्या बात है।

कुं पावन है रघुनाथ का, राम नाम सुखमूल।
जप कर्त्ता के जपत ही, पाप करत निर्मूल॥
पाप करत निर्मूल, शूल संसार मिटाता।
सुख का मूल अनूप, राम पद है दिलवाता॥
भोला! भज ले राम, शान्ति कर परम सुहावन।
भजे विभीषण राम, हुए पावन से पावन॥

कथा गजराज की।

महाभारत, भागवत और अन्य पुराणों में यह कथा विस्तार से लिखी है कि गज और ग्राह दोनों पूर्व जन्म में ब्राह्मण और भगवद्भक्त थे। ऋषीश्वर के शाप से एक ने हाथी का शरीर और दूसरे ने ग्राह का शरीर पाया था। पूर्व जन्म की शत्रुता से इस जन्म में लड़ाई का इन को संयोग इस प्रकार प्राप्त हुआ कि एक दिन पानी पीने को यह गजराज गंडकी नदी पर गया वह ग्राहवहां रहता था। उसने गज का पांव पकड़ लिया। ग्राह गज को अपनी ओर जल में खींचता था और गज ग्राह को अपनी ओर पृथ्वी पर खींचता था। इस प्रकार एक हजार वर्ष तक दोनों लड़ते रहे, अन्त में ग्राह प्रबल पड़ा और गज को नदी में ले चला। सूंड मात्र बाकी रह गयी थी, गज डूबने को ही था कि उसने भगवत् की शरण ली अर्थात् नदी में से एक कमल तोड़ कर अपनी सूंड में लेकर भगवत् की भेंट करके पुकारा कि हे हरे! मैं आपकी शरण हूं! शरणागत वत्सल, दीन दुःख भंजन, महाराज दुःख से भरी हुई टेर सुनते ही विकल होकर गरुड़ तजकर चक्र फिराते हुए बैकुण्ठ से दौड़े और शीघ्र पहुंचने के लिये उनको ऐसी विकलता हुई कि जिस गरुड़ का वेग मन के बराबर है, उसको भी बलहीन समझकर छोड़ दिया और पांव पयादे ही दौड़े, गज की सूंड ज्यों की त्यों बाहर ही थी कि आन पहुंचे और ग्राह के मुख पर चक्र मारा, जिससे उसका शिर कट गया और गज उसकी फांसी से छूट गया।

संसाराम—महाराज! भगवत् सर्वत्र व्यापक हैं, फिर वे बैकुण्ठ से क्यों आये, उसी स्थान पर प्रकट क्यों न हो गये?

मस्तराम—भाई! इस समय गज ने बैकुण्ठ नाथ का मन में ध्यान करके पुकार की थी, इसलिये भक्त की चाहना के अनुसार भगवत् बैकुण्ठ से आये। दूसरा कारण यह है कि यह चरित्र भगवत् ने अपनी अधिक विकलता दिखाने के निमित्त किया था क्योंकि अपने शरणागत के छुड़ाने के लिये और दूसरे भक्तों का भाव बढ़ाने के निमित्त भगवत् ने यह चरित्र करना उचित समझा, इसलिये वे

बैकुण्ठ से आये। भगवत के शीघ्र पहुंचने के वर्णन में हजारों श्लोक और कवित्त कवि लोगों ने रचे हैं, उनमें से दो चार का भाव संक्षेप से यह है। 'हाथ न मिटन पाई, आये हरि आतुर भये' अर्थात् पुकार की झनक मिटने नहीं पायी थी कि तुरत ही विकल हुए आपहुंचे। दूसरा 'रा' कहयो कदन माँहि 'मा' कहयो मगन मांहि' अर्थात् गज ने राम पुकारा तो ऐसे शीघ्रता से आये और रक्षा करी कि रा शब्द तो पीड़ा में और रोते हुए मुख से निकला और मा शब्द आनन्द में हंसते हुए मुख से निकला तीसरा–'पानी में प्रकट्यो कै धौं वाणी में गयन्द कै', अर्थ स्पष्ट है। चौथा–'आयो चढ़ि वाही के मनोरथ महारथी' अर्थात् उसी की चाहना पर चढ़ कर आये, ऐसी लाघवता करी। पीछे गजेन्द्र ने भगवत् की स्तुति की जिसके लिये मोक्ष स्तोत्र में लिखा है कि जो कोई उसका पाठ करता है, वह भगवद्धाम को जाता है। भगवत् ने प्रसन्न होकर अपना परम पद गजराज को दिया और भगवद्दर्शन और चक्र के स्पर्श से ग्राह को भी परम पद मिला।

कु०–हारा गज जब ग्राह से, शरण विष्णु की लीन।
गरुड़ छोड़ कर राह में आ हरि रक्षा कीन॥
आ हरि रक्षा कीन, ग्राह पै चक्र चलाया।
किया दुष्ट कूं मुक्त, भक्त गजराज बचाया॥
भोला! मोक्ष गजेन्द्र, पाठ कर बारम्बारा।
हार जाय भव ग्राह, जीत जावे मन हारा॥

कथा ध्रुव जी की।

ध्रुव जी की कथा बहुत से पुराणों में लिखी है और सब लोग जानते हैं, इसलिये संक्षेप से कहता हूं। राजा उत्तानपाद और रानी सुनीति से इनका जन्म हुआ था। एक दिन राजा दूसरी रानी के उत्तम नाम के पुत्र को गोदी में लिये हुए बैठा था, ध्रुव जी ने भी गोदी में बैठना चाहा। ऐसा देख कर उत्तम की माता सुरुचि राजा की दूसरी स्त्री कहने लगी कि यदि तू मेरे उदर से जन्म लेता, तो राजा की गोद में बैठने योग्य होता। यह कह कर रानी ने ध्रुव जी को राजा की गोद में बैठने न दिया ध्रुव जी ने लज्जा और ढीठताई से उसी घड़ी भगवत् शरण ली, क्योंकि सिवाय भगवत् शरणागत के उन्हें दूसरा उपाय न सूझा। अपनी माता से आज्ञा लेकर वे भजन करने को घर से चल दिये। मार्ग में नारद जी ने लौटने को कहा परन्तु जब वे न लौटे तो नारद जी ने उनको द्वादशाक्षर मंत्र का उपदेश कर दिया।

ध्रुव जी मथुरा में आये। मंत्र का जप करके भगवत् को उन्होंने प्रसन्न किया। शरणागतवत्सल दीनबन्धु महाराज ने आकर अपना हस्तकमल उनके शिर पर रख कर और भक्ति का वरदान देकर कहा कि छत्तीस हजार वर्ष इस पृथिवी का राज्य करके फिर अटल लोक का राज्य करोगे। अब तुम अपने घर जाओ। ध्रुव जी अपने घर को आये। उनका पिता नारद जी की आज्ञा से उन को आगे जाकर बड़े सन्मान से ले आया और राज्यतिलक देकर आप भगवद्भजन करने को चला गया। ध्रुव जी ने छत्तीस हजार वर्ष न्याय और धर्म पूर्वक राज्य किया और भगवद्धर्म समस्त संसार में फैलाया, उत्तम नामक ध्रुवजी के भाईको कुबेर के असुरों ने मार डाला। ध्रुव जी कुबेर पर चढ़ गये और उन्होंने एक लाख अस्सीहजार कुबेर के अनुचरों का वध किया। स्वयंभु मनु ने आकर कुबेर का अपराध क्षमा कराया पश्चात ध्रुव जी अपने दोनों माता पिता समेत ध्रुव लोक को गये, अब तक वहाँ का राज्य कर रहे हैं, जब महा प्रलय होगी, तब वे भगवत् के परम पद को प्राप्त होंगे।

कुं०—गाया ध्रुव की चित्त दे, पढ़ें सुनें नर नारि।
लोक तथा पर लोक का, सुख देवें असुरारि॥
सुख देवें असुरारि अन्त अक्षय पद देवें।
जन्म मरण संसार, दुःख सारे हर लेवें॥
भोला! हो हरिभक्त, झुका भक्तों को माथा।
भक्तों के लिख लेख, देख भक्तों की गाथा॥

कथा मामूं भानजा की।

मामूं भानजे दोनों ऐसे परम भक्त थे कि उन्होंने भगवत् को अपनी सेवा से प्रसन्न किया और प्राण तक भगवत् पर निछावर कर दिये। प्रथम जब भगवत् शरण हुए तो घर बार सब त्याग कर तीर्थयात्रा करते हुए विचरने लगे। दोनों पंडित और ज्ञानवान् थे। यात्रा करते में किसी वन में भगवत् की परम शोभायमान मूर्ति देखने में आयी। मन्दिर बनवाने का विचार करके दोनों द्रव्य के अन्वेषण में फिरने लगे, कहीं कुछ न मिला। किसी नगर में सेवड़ों के देवता की प्रतिमा पारस-पाषण की सुन कर प्रसन्न हुए कि अब मनमाना मन्दिर बन जायगा परन्तु यह शंका हुई कि सरावगियों के चौनाले में जाना निषिद्ध है, कैसे जावें, फिर विचार कर यह निश्चय किया कि यह शरीर भगवच्छरण है, भगवत् जिस बात में प्रसन्न हों, वह ही करनी चाहिये और भगवच्छरणागतों ने यदि नरकादिक का भय किया, तो शरणागति की दृढ़ता नहीं, ऐसा विचार कर दोनों सेवड़ों के मन्दिर में जाकर उनके चेले हो गये और उस मन्दिर और सेवड़ों की ऐसी सेवा करी कि सब ने विश्वासयुक्त होकर मन्दिर का सब कार बार इनको सौंप दिया।

जब सब कार बार इनके हाथ में आगया, तो मूर्ति के ले जाने की चिंता हुई परन्तु निकलने का मार्ग न मिला, क्योंकि द्वार संकीर्ण था। जिस कारीगर ने मन्दिर बनाया था, उसके पास दोनों ने जाकर बात चीत करने में ही भेद ले लिया कि शिखर के ऊपर जो कलश है, वह पेच लगा कर दृढ़ किया गया है, पेच खुल सक्ता है और वही मूर्ति के आने जाने की राह है। रात में दोनों ने मंत्र करके पहिले उस कलश को उतारा फिर भानजा उस राह से निकल कर शिखर पर चढ़ गया और मामूं ने मन्दिर के भीतर बैठ कर उस मूर्ति को इस प्रकार दृढ़ रस्सी से बांधा और भानजा उसे ऊपर खींच लाया। जब मूर्ति के निकलने से मन स्थिर हो गया तो मामूं ने भी उसी मार्ग से निकलना चाहा परन्तु अति हृष्ट होने के कारण शरीर इतना मोटा हो गया कि उस मार्ग से निकल न सका, उसी में फंस गया, कितने ही उपाय किये परन्तु कोई उपाय न चला, मामूं ने भानजे से कहा कि यदि मेरा शरीर यहां रह गया, तो कोई चिन्ता, नहीं, न कोई दुःख की बात है, जो मनोरथ था, सो सिद्ध हो गया, उचित यह है कि जैसी कांक्षा है, वैसा मन्दिर बनवाओ, मेरा शिर कहीं काट कर डाल दो कि साधु वेष की निन्दा के शब्द सेवड़ों के मुख से मेरे कानों में न पड़ने पावें, क्योंकि साधुवेष वास्तव में भगवत् वेष ही है।

भानजे ने शोक से दुःखित होकर मामूं के कहे अनुसार उसका शिर काट लिया और मूर्ति लेकर वह चल दिया। यद्यपि ज्ञान और भगवत् शरणागति की दृढ़ता से अपने मामूं के मरने का उसे कुछ शोक न हुआ परन्तु सत्संग समझ कर और परम भागवत के वियोग से वह ऐसे शोक सागर में पड़ा कि किसी प्रकार चित्त को चैन नहीं होता था। कभी शोक से दुःखी और कभी मूर्ति के

मिलने से आनन्द में मग्न होता हुआ, जहाँ मन्दिर बनाने का विचार किया था, वहां पहुंचा, क्या देखता है कि कोई मन्दिर बनवा रहा है। कोई दूसरा मन्दिर बनवा रहा है, ऐसा समझ कर वह अपने मनमें बहुत दुःखी हुआ, समीप पहुंचा, तो मामूँ को मन्दिर बनवाता हुआ पाया, दोनों मामूँ भानजे आनन्द से दौड़ कर मिले और रंगनाथ स्वामी का मन्दिर ऐसी शोभा और तैयारी से बनवाया कि वैसा दूसरा संसार में नहीं है।

दो०—मामा भानज कथा का, यही निकलता सार।
भगवत् की जो ले शरण, निश्चय हो भवपार॥
निश्चय हो भवपार, राज्य निष्कंटक पावे।
शोक मोह भय मुक्त, गर्भ में लौट न आवें॥
भोला! मद दे त्याग, सत्य है अपना आत्मा।
जन्म मरण है स्वप्न, सीख दें भानज मामा॥

कथा जटायु की।

सब रामायणों में यह कथा विस्तार से लिखी है कि पक्षियों का राजा जटायु भगवत् का परम भक्त था। इसने अपने शरीर को भगवत् पर निछावर कर दिया था। जब रघुनन्दन महाराज दण्डकवन में थे और पंचवटी से रावण सीता जी को चुरा कर ले चला, तो सीता जी भगवत् विरह से व्याकुल होकर महा विलाप करती जाती थीं। जटायु ने जानकी जी को पहिचान लिया और रावण के प्रताप और बल का कुछ भय न करके वह अधीर होकर दौड़ा और अपनी चोंच और पंखों से उसने रावण को घायल करके गिरा दिया सीता महारानी को छुड़ा लिया और एक स्थान पर उनको बैठा कर फिर वह रावण से लड़ने को संबद्ध हुआ और ऐसा लड़ा कि जिस रावण ने सारे देवता और राजाओं को बिना परिश्रम जीत लिया, उसको बेसुधि और मृतक के समान कर कर दिया। रावण ने चकित और क्रोधित होकर तलवार से उसके पंख काट दिये, ऐसी दशा में भी उसने बल और पराक्रम बहुत किया परन्तु बिना पक्ष के पक्षी मृतक सदृश है, इसलिये उसका परिश्रम कुछ काम न आया, रावण दो चार अच्छा घाव मार कर चला गया।

सीता जी को ढूंढते हुए रघुनन्दन महाराज और लक्ष्मण जी जटायु के पास पहुंचे, उस घड़ी तक जटायु के शरीर में प्राण था। रघुनन्दन महाराज का दर्शन करते ही सब दुःख सुख, शत्रु मित्र और, साधु असाधुभाव उसके मन से दूर हो गया, भगवत् के रूप अनूप के सिवाय बाहर भीतर कुछ न रहा पीछे उसने रघुनन्दन महाराज से सब वृत्तांत कह कर विदा मांगी। श्रीकरुणाकर कृपालु ने जटायु को अपनी गोद में बैठा कर उसके शरीर पर हस्तकमल फेरा, और अपनी जटाओं से उसके पंखों की धूल झाड़ी, जैसा कि किसी ने कहा है:—

दीन मलीन अधीन है अंग विहंग परयोहिति छिन्न दुखारी
सायक दीनदयाल कृपाल को देखि दुखी करुणा भई भारी।
शीश को गोद में राखि कृपानिधि नयन सरोजन में भरी वारी
बारहि बार सुधारत पंख जटायु की धूरि जटान सों झारी॥

पश्चात् भगवान् ने शोक से विकल होकर आंखों में आंसू भर कर कहा कि तन के छोड़ने से क्या प्रयोजन है अटल और निर्भय कर सका हूं। जटायु ने कहा कि जिसका नाम करोड़ों जन्म के पातकों को दूर करके परमानन्द प्राप्त करा देता है, वह ही पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघन मुझको अपनी गोद में लेकर मेरे शरीर पर हाथ फेरता और प्यार करता है और मैं उस स्वरूप को, जो शिवजी के ध्यान में भी बड़े कष्ट से कभी न आता है, देख कर

आनन्द में मग्न हैं, तो इस घड़ी से बढ़कर और कौनसी घड़ी अच्छी होगी कि अनित्य शरीर को छोड़ूंगा। यह कह कर भगवच्चरणों का चिन्तन करता हुआ जटायु तनको छोड़ कर स्तुति करता हुआ परमशोभायमान विमान पर आरूढ़ होकर परम धाम को चला गया। भगवत् ने उसके शरीर की दाहादिक क्रिया स्वयं की और जिस प्रकार दशरथ महाराज को तिलांजलि दी थी, उसी प्रकार जटायु को भी दी, भगवत् की इस दीन वत्सलता को धन्य है कि कैसे २ तुच्छों को किस पदवी पर पहुंचाते हैं कि जहां मन और बुद्धि का प्रवेश नहीं होता।

कुः-करुणा करुणासिंधु की, को कहि पावे पार।
शरणागत निज भक्त का, तुरत करें उद्धार॥
तुरत करें उद्धार, मर्त्य कूं अमर बनावत।
मन वाणी से पार, धाम अपने पहुंचावत॥
भोला! भज श्रीराम, इष्ट यदि भव से तरना।
गीध हुआ भव पार, करी रघुनन्दन करुणा॥

ज्ञान-भूमि

गतांक से आगे

[ले० श्री महात्मा राम]

'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्ये'।

इस श्रुति ने आत्मवेत्ता पुरुष की विदेह मुक्ति में उतने काल का ही विलम्ब बतलाया है जितने उसके प्रारब्ध कर्म अपना फल देकर समाप्त नहीं होते हैं पश्चात ब्रह्म में लीन हो जाता है।

ऐसे आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त को देह का परित्याग करने के लिये किसी उत्तम काल अथवा पवित्र देश की आवश्यकता नहीं है।

तीर्थे स्वपच गृहे वा नष्ट सुतिरपि त्यजन्देहम्।
ज्ञान समं काल मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥

काशी आदि तीर्थ में अथवा चाण्डाल के गृह में शरीर को त्यागे तथा किसी रोग विशेष के वश हुआ ब्रह्मात्मस्मृति से रहित हुआ भी ज्ञानवान पुरुष देह को त्याग कर विदेह कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होता है कारण यह है कि यह पुरुष आत्मज्ञान के समकाल ही मुक्त होता है तथा सर्व शोकों से रहित होता है 'तरति शोकमात्मवित्'। श्रुति में कहा है कि आत्मा को जानने वाला ही शोक से पार होता है अन्य नहीं। चतुर्थी भूमि का जिसका नाम सत्वापत्ति है उसमें प्राप्त हुए जीवन्मुक्त विद्वान् के शोक मोहादिक सर्व विकार जो इस जीवको मरण के बन्धन में ले जाते थे निवृत्त हो जाते हैं। और वह विद्वान् कृत कृत्य हो कर सदा के लिये तृप्त हो जाता है।

'विश्रान्तः कृत कार्यान्त प्राप्त प्राप्य पदोऽपरः।'

मनुष्य के अन्दर चार प्रकार की इच्छा होती है जिनका नाम जिज्ञासा, जिहासा, चिकीर्षा प्रेप्सा, है जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं और त्यागने की इच्छा को जिहासा कहते हैं। किसी फल सिद्धि के लिये कर्म करने की इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं। और किसी स्थान वा पद की प्राप्ति की इच्छा को प्रेप्सा कहते हैं।

इन चारों इच्छाओं में से जीवन्मुक्त विद्वान् को कोई भी इच्छा नहीं रहती।

'कृत कृत्य तया तृप्तः प्राप्य प्राप्यतयापनः।
हत हेय तया ज्ञात ज्ञेयत्वेन महा मुनिः'॥

चतुर्थी भूमिका को प्राप्त हुए विद्वान् को कर्म का प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि निःस्काम कर्म का फल केवल अन्तःकरण की शुद्धि था सो उसको हो चुका अर्थात् कर्मों द्वारा प्राप्त करने योग्य

विद्वान् को कोई वस्तु अवशेष नहीं रही अतः यह सदा तृप्त रहता है। मुक्ति पद प्राप्त होने उपरान्त कोई उच्च पद नहीं रहा जिसकी प्राप्ति चाहे। स्वात्म स्वरूप के जानने पर कोई अन्य वस्तु जानने योग्य नहीं रही जिसके जानने की इच्छा हो। आत्म ज्ञान के उत्पन्न होने पर अज्ञान के नाश हुए सर्व कार्य्यज्ञान संसार का त्याग किये जाने पर कोई वस्तु त्याग ने योग्य नहीं रही अथवा सर्वत्र में जब स्वात्म रूप ही हो जाता है तब त्यागने को क्या रह गया जिसके त्याग की इच्छा की जाय।

श्रुतिः—यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

जिस आत्मज्ञान की अवस्था में सर्व प्राणी मात्र को अपना आत्मा रूप जानता है ऐसे एकत्व भाव से देखने वाले विद्वान को किसका मोह होवेगा और किसका शोक होगा अर्थात् किसी का नहीं।

सवैया

पूरण ब्रह्म लखाजिन केवल, एक अखण्ड रमा भव सारे।
रूप न रेख अलेख सदा यम, भाषत हैं जिनको श्रुति सारे॥
ज्ञान दिनेश सदा जिनके मत, मोहनिशा के मिटे सब तारे।
सोगुरु हैं हमरे उर में जिन पाप पयोनिधि पार उतारे॥
जाग्रत में जो प्रपंच प्रनापत, सो सब बुद्धि विलास बन्यो है।
ज्यों सुपने में द्विभोग्य न भोग, तऊ एक चित्र विचित्र बन्यो है
तीन सुषुप्ति में मति होतई, भेद भये एक रूप सुन्यो है।
बुद्धि रच्यो जो मनोरथ मात्र, सुनिश्चित बुद्धि प्रकाश बन्यो है

दोहा

'जाग्रत माहिं सुषुप्ति, मतवारे की केल।
करे चेष्टा बाल ज्यों, आत्म सुख रहा खेल॥
जैसे दिनकर के उदय, दीपक द्युति दुरि जात।
तैसे ब्रह्मानन्द में, आनन्द सबै विलात॥

ज्ञानी करे अनेक कर्म, विधिवत् जग व्यवहार॥
लिपे न धूम अकाश ज्यों, जान्यो जगत असार॥
जैसे भूजे अन्न में, उद्भूता भई छंन।
तैसें आत्मवान् की, भई जगत मति लीन॥
जो ताकी पूजा करत, संचित सुकृत समेत।
दोष दृष्टि तिहीं जो राखै, ताहि पाप फल देत॥

ज्ञानवान पुरुष अनेक प्रकार के कर्मों को विधि पूर्वक करता हुआ भी जैसे राज्य पालन आदिक दण्ड और निग्रह आदि के लिये अति घोर कर्म करने पर भी उन कर्मों के फल से लिप्यमान नहीं होता जैसे धूआँ से आकाश लिप्त नहीं होता।

'यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

मैंने यह कर्म किया है ऐसा अहंकार का भाव जिसका नहीं है और इस कर्म का फल मुझे होगा इस प्रकार जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती है हे अर्जुन! वह पुरुष इन सर्व जीवों को हनन करने पर भी न किसी को मारा हुआ मानता है और नाहीं उस कर्मके फल से बन्धन को प्राप्त होता है। कारण यह है की वह जगत को असार जानता है जिस प्रकार भूने हुए चने में पुनः उपजने वाली शक्ति नहीं रहती इसी प्रकार आत्मज्ञानी की जगत पने की दुद्धि नष्ट हो जाती है और उसके जन्म मरण भी नहीं रहते जैसे भुने चने का आकार यदस्तूर बना रहता है। और वह क्षुधा को भी निवृत्त कर देता है परन्तु ऊग नहिं सक्ता इसी प्रकार ज्ञानवान् का शरीर देखने मात्र है। यद्यपि उस शरीर द्वारा कर्म भी करता है जैसे भुने चनों से क्षुधा की निवृत्ति होजाती है परन्तु उसके कर्म पुनरावृत्ति के हेतु नहीं हो सक्ते जैसे भुना चना नहीं जम सक्ता तैसे ज्ञानवान् का जन्म भी नहीं हो सक्ता यथा गीता में (ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं)

ज्ञान अग्नि से सर्व कर्म दग्ध हो जाते हैं। चौथी भूमिका में प्राप्त हुए विद्वान् को जो मुक्ति रूप फल प्राप्त होता है वह फल पंचमी आदिक भूमिका वालों को होता है कारण यह है कि जन्म मरण कि बन्धन का हेतु जो अज्ञान था वह तो चतुर्थी भूमिका में ज्ञानोदय काल में ही नष्ट हो जाता है इसलिये कैवल्य मुक्ति सब की समान है यथा गीता में।

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवत ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥'

आत्मा को आवरण करने वाला जिस का अज्ञान आत्म ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने से नष्ट हो गया है उसका वह उत्तम ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होता है।

'भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः'।

ज्ञानवान् का देह का अन्त होने के पीछे फिर भगवान् की विश्वमाया विमोहित नहीं कर सकती किन्तु सदा के लिये निवृत्त हो जाती है।

उपरोक्त चतुर्थी भूमिका से लेकर सातवीं भूमिका पर्यन्त जो चार प्रकार के लक्षण युक्त ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान और ब्रह्मविद्वरिष्ठ यह नाम कथन किये हैं इन चारों की मुक्ति में कोई विलक्षणता नहीं है। यदि विलक्षणता है तो इनके दृष्ट सुख में है।

तारतम्येन सर्वेषां चतुर्णां सुखमुत्तमम्।
तुल्या चतुर्णां मुक्तिः स्याद्दृष्टं सौख्यं विशिष्यते॥

ब्रह्मविद् आदिक चारों विद्वानों को तारतम्यता यानी कम ज्यादा करके सुख होता है चतुर्थी भूमिका वाले विद्वान् को जो सुख का ज्ञान होता है पंचमी भूमिका वाले को उससे अधिक होता है इसी प्रकार उत्तरोत्तर सुख की अधिकता होती है। यद्यपि चारों के ज्ञान में भी कोई न्यूनाधिकता हो तथापि चतुर्थी भूमिका वाला विद्वान संसार की मर्यादा के लिये यत्किंचित् अज्ञान के लेश मात्र को अपने में आरोपण करके प्रवृत्ति मार्ग का अवलंबन करता हुआ शिष्यादिकों के कल्याणार्थ व्यवहार को करता है यद्यपि व्यवहार काल में भी यह स्वस्वरूप से विस्मृत नहीं रहता तथापि कर्म का आरम्भ ही रजोगुण से होता है और रजोगुण की विक्षेप शक्ति है इसलिये कुछ न कुछ विक्षेप प्रवृत्ति में होता ही है।

जैसे निर्वातस्थान में दीपक अचल रहता है और वायु वाले स्थान मे अचल नहीं रहसकता तैसे ही जब मन व्यवहार कार्यों को चिन्तन करता है तब उस सुख को छोड़देता है और जब व्यवहार करता २ थक जाता है तब विश्राम करने के लिये व्यवहार को त्याग कर एकान्त में सुखका उपभोग करता है। यद्यपि उस आत्म सुख को छोड़ कर व्यवहार करना नहीं चाहता है परंतु किसी प्रारब्ध के वेग से अथवा व्यवहार कार्यों की समीपता से वह व्यवहार करना होता है। इस विषय में विद्वानों का यह कथन है कि कितने ही विद्वानों की प्रारब्ध प्रवृत्ति की होती है जैसे जनक आदिक राजा हुवे हैं और कितनों की प्रारब्ध निवृत्ति की होती है जैसे शुकदेव वामदेव जड़ भरत आदिक हुए हैं इनमें प्रवृत्ति की प्रारब्ध तो निकृष्ट है और निवृत्ति की प्रारब्ध उत्कृष्ट है प्रवृत्ति वालों को वर्तमान अवस्था का सुख कम होता है और निवृत्ति वालों को वर्तमान अवस्था का सुख अधिक होता है। निवृत्ति की प्रारब्ध वाले विद्वानों की बुद्धि जब आत्मा को अपरोक्ष अनुभव करलेती है तब वह आत्मविषयनी बुद्धि बन जाती है और वह सर्वदा आत्मा के सन्मुख ही रहती है, कदाचित् भी आत्मा के विमुख नहीं होती इसी हेतु से ऐसे विद्वानों की

विलक्षण आचरण युक्त देखा जाता है और उन्हें कोई पागल, कोई मतवाला, दिवाना, मस्ताना अनेक प्रकार के शब्द कह कर बोलते हैं।

कहां ए चंडाल जात मगमों द्विजतिकियों,
कैधों कोऊ शूद्र है कचोर बात पेश है।
तरव के प्रवेश में प्रवीन मति मान उत,
उत्तम योगेश कौन चीनें कौन वेष है।
इति विधिकर जो संभाषमात्र जननकें,
मुखों कर, संभव विकल्प अशेष है।
सुने गुने मति तांहि वर शाप देत नांहि।
जांहि सुखी पथ मांहि जैस नक्षत्रेश है॥

कवित्त—कभी भूमि आसन सिंहासन में वास कभी,
कभीविस प्रान कभी विजन अहार है।
कभी शत खण्डवती गोदरी को औढ़े जती,
कबहूं दिगम्बर को धार है॥
कभी भानु करतपे कभी शीश उग्र दिपै,
कहूं सत्कार होत कहूं त्रिसकार है।
तदपि न सन्त जन सुखी दुखी होत मन,
आत्मा असंग लखैं देह को विहार है॥

चतुर्थी भूमिका वाला विद्वान सब व्यवहारों को करता हुआ जल में कमलवत् असंग रहता है।

'पश्यती स्वप्नवत् लोकं चतुर्थी भूमिका मता'॥

और चौथी भूमि का में सर्व जगत को स्वप्न के तुल्य देखता है। जब चौथी भूमिका को अतिक्रमण करके पंचमी भूमिका में प्राप्त होता है तब जगत की तरफ से मानो सोया हुआ है।

'पंचमी भूमिका मेत्य सुषुप्तिपद नामिका।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशापश्यतोमुने॥'

जिस संसार चक्कर में सर्व भूत प्राणी जाग्रत हैं अर्थात् व्यवहार में निमग्न हो रहे हैं उस संसार की तरफ से ज्ञानवान मुनि सोए हुए हैं अर्थात् वह ज्ञानियों की रात्रि है। पंचमी भूमिका वाले का शरीर जड़ के समान हो जाता है उसको शरीर में होने वाले सुख दुःख का ही भान नहीं होता है। जैसे नींद से उठे हुए बच्चे को माता दुग्ध पिलाती है वह बच्चा कभी तो स्तनपान करता है, और कभी मुख में स्थन लेकर चुप रह जाता है इसी प्रकार उनके खान पान की व्यवस्था रहती है। यदि किसी सेवक ने उनके लिये कुछ भोजन निवेदन किया है तब उनको यदि अधिक क्षुधा लगी है तब तो वो स्वयं भी भोजन खाते हैं और यदि इतनी क्षुधा नहीं है तो उनके पास कोई कुछ भी लावे और कोई कुछ भी ले जावे उन्हें किसी जाती का भेद नहीं किसी इष्ट अनिष्टका भेद नहीं जैसे सोये हुए आदमी को विशेष बातों का ज्ञान नहीं होता है तैसे पंचमी भूमिका वाले को किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है चाहे कोई बुरा चाहे भला हो जो पुरुष शुद्ध भाव से उनकी सेवा पूजा करते हैं उनको मनवांछित फल मिलता है और जो दुष्ट स्वभाव वाले नीच पुरुष उनसे द्वेष करते हैं वह महति पाप के फल को भोगते हैं।

'सर्वेषामपि पापानां यतिनिन्दा गरीयसी।
यतिनांरायणः साक्षात् तस्मात्तां प्रवर्जयेत्॥'

सर्व पापों से बड़ा पाप यति की निन्दा का है। यति साक्षात् नारायण का स्वरूप ही होता है इसलिये यति की निन्दा किसी को नहीं करनी चाहिये।

'षष्टी गाढ़ सुषुप्तरूपा सप्तमी तूर्यगास्मृता॥

छठी भूमिका गाढ़ सुषुप्त के समान है जिसमें सर्वथा जगत का अभाव हो रहता है खान पान का व्यवहार भी नहीं रहता है यदि खान पान होता है तो बहुत अल्प होता है इस अवस्था वाले विद्वान का भोजन आदि व्यवहार दूसरों द्वारा है स्वयं नहीं दूसरों द्वारा भी यत्न साध्य होता

है कारण यह कि उसकी बुद्धि ब्रह्मानन्द में निमग्न रहती है।

'बुद्धि विनष्टा गलिता प्रवृत्तिर्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने किंवा कियद्वासुख मस्त्यपारम् ॥'

ब्रह्मात्मा के एकत्व भाव को अनुभव करके बुद्धि विनष्ट होगई है और सब प्रवृत्ति क्षीण हो गई है यह और वह इस प्रकार का ज्ञान नष्ट हो गया है और यह भी नहीं कहा जा सक्ता है कि कितना सुख है किन्तु अपार है जिसका अन्त नहीं है।

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगंबरो वापि चिदम्बरस्थ।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥

कभी नगन रहता है कभी भक्तों के द्वारा पहनाये हुए वस्त्रों को धारण करता है। कभी मृगाम आदिकों को धारण करता है और कभी चिदाकाश रूप हो जाता है कभी उन्मत्त के समान चेष्टा करता है कभी बालक के समान और कभी पिशाच के समान हो जाता है इस पकार पृथवी पर जहां तहां भ्रमण करता है ऐसे विद्वान् का अव्यक्त चिन्ह होता है। यह विद्वान छटी भूमिका को प्राप्त होकर थोड़े दिनमें ही देह को त्याग देता है कोई कोई विद्वान् सातवीं भूमिका में भी पहुंच जाता है परन्तु उसका शरीर अधिक समय तक नहीं ठहरता है खान पान बन्द होजाता है किसी का उठाया हुआ भी नहीं उठता है जैसे तप्त तवे पर जल की बून्द पड़ते ही समाप्त हो जाती है तैसे ब्रह्मानन्द में बुद्धि लीन होजाती है और कुछ काल में अपने शरीर को ऐसे त्याग देता है जैसे सर्प कांचुली को त्याग देता है और कैवल्य ही कैवल्य हो जाता है।

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परंम मम।
सूत्र-न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते ॥

मैं कौन और क्या हूँ

(ले० श्री मुन्शी रूपराम जी)

बता दूं हाल क्या अपना कि मैं हूं कौन और क्या हूं।
न जानूं कुछ पता अपना कि मैं हूं कौन और क्या हूं॥
न हिन्दू हूं न मुसलिम हूं यहूदी हूं न ईसाई।
न शर्की हूं न गर्बी हूं न जानूं कौन और क्या हूं॥
न दुश्मन है कोई मेरा नहीं मैं दोस्त भी हर्गिज़।
शरारे का हूं यक पारा न जानूं कौन और क्या हूं॥
यगाना हूं न बेगाना न मतलब दीन दुनियां से।
मुझे मतलब से क्या मतलब न जानूं कौन और क्या हूं॥
न फर्शी हूं न अर्शी हूं गदा हूं ना नहीं मैं शाह।
बरी हूं दूर हूं इनसे न जानूं कौन और क्या हूं॥
मकां अपना नहीं कोई निशां अपना बताऊं क्या।
ठिकाना बे ठिकाना है न जानूं कौन और क्या हूं॥
न इब्दा हूं न ईवां हूं न आखिर हूं न हूं माबूद।
न बन्दा हूं न औका हूं न जानूं कौन और क्या हूं॥
न हालत ही रही कोई न रिश्ता दीनो दुनियां से।
न ज़िल्लत में न इज्जत में न जानूं कौन और क्या हूं॥
न अव्वल हूं न आखिर हूं न फानी हूं न सानी हूं।
नहीं भी हूं औ हूं भी बस न जानूं कौन और क्या हूं॥
सभों ही से रहूं न्यारा न उलफत है न नफरत है।
मुहब्बत का हूं बस कुदरा न जानूं कौन और क्या हूं॥

पुरुषार्थ

[ले० पुरोहित रामस्वरूप जी शर्मा]

पुरुषार्थ शब्द मानव जीवन का एक अतीव मुख्य ज्ञेय विषय है। संसार भरके संपूर्ण जन किसी न किसी विकृत कल्पना के साथ इसकी आवश्यकता अनादि काल से किसी न किसी रूप में मानते चले आये हैं। अथ च आगे भी मानते ही रहेंगे। परन्तु इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। इस विषय में सर्व प्रचलित धर्मों में पुरुषार्थ रूप से अन्तिम ध्येय दुःख की सार्वकालीन अत्यंत निवृत्ति और परम सुख की प्राप्ति प्रायः सारे मतावलंबी मानते हैं। दुःख की निवृत्ति प्रायः सामन्य साधनों से कथंचित्सर्वदा होती भी रहती है, परन्तु वह निवृत्ति सर्वदा एक रस नहीं रहती है वह निवृत्ति क्षणिक एक ओर से होकर दूसरी ओर सामान्य या विशेष भाव से सदाही समुत्पन्न और नष्ट होती रहती है। आधिभौतिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक, इन तीनों कोटियों में से किसी न किसी कोटिका दुःख प्रायः सर्वदा न्यूनाधिक रूप में रहता ही है। परन्तु किसी सुख विशेष की भावना के समय में वे दुःख इस प्रकार से लुप्त प्रायः रह जाते हैं, जैसे प्रबल सूर्य के प्रकाश में नभो मंडल में वर्तमान तारे विद्यमान होते हुए भी अदृश्य रूप में रहते हैं। अतः वह दुःख की निवृत्ति भी नाम मात्र निवृत्ति ही है क्योंकि वह स्थायी नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु वह सुख बीज रूप से दुःखावच्छिन्न ही है। भगवान् पातंजलि ने अपने योग सूत्र में यह सिद्धान्त माना है कि 'परिणाम ताप संस्कारैः दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' अर्थात् वस्तु जन्य आगंतुक सुख परिणाम वाले होने से ताप संस्कारों को उत्पादन करने वाले होवेंगे ही और इसी मत को सांख्य सिद्धांतने भी यह कह कर कि:-

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साक्षार्थाचेत् नाप्यंततो॥"

अर्थात् दुःखत्रय आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इनसे पुरुष को (अभिघात) पीड़ा होती ही रहती है और प्राणीमात्र से स्वाभाविक ही इसका प्रसंग बना रहता है। यद्यपि दृष्ट उपायों से इसकी निवृत्ति होती है तथापि वह निवृत्ति सर्वकालीन और आत्यंतिक निवृत्ति जिससे हो सके वही परम पुरुषार्थ है, और अनेकांतिक निवृत्ति क्षुद्र पुरुषार्थ मात्र वा पुरुषार्थाभास मात्र है! (परम) सत्य सर्वैक रूपावस्थायी पुरुषार्थ नहीं है।

पुरुषार्थ शब्द यौगिक है अर्थात् पुरुष और अर्थ इन दो शब्दों का जोड़ है, अतः आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रथम पुरुष किसको कहते हैं इसी पर विचार किया जावे। पुरुषशब्द की व्युत्पत्ति है "पुरि शयनात् पुरुषः" अर्थात् पंचकोश वाली पुरी में जो शयन कर रहा है वह पुरुष है। इस पुरी के ये पाँच कोश वेदों में अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, मनोमय और आनन्दमय, इन नामों से कहे गये हैं अथवा स्थूल सूक्ष्म और कारण रूपी भी माने गये हैं अर्थात् शरीर रूपी पुरी के ये तीन परकोटे हैं। स्थूल शरीर दृष्टि गोचर होता है। सूक्ष्म शरीर ऐन्द्रियक विषय वाला, और कारण शरीर संस्कार वाला है। इस कारण शरीर में प्राणी के सात्विक, राजस, तामस, संस्कारों का चित्र चित्रित रहता है और उसीको साथ लिये रहने से वा अपनाने से वही आत्मा पुरुष शब्द वाच्य होता है इस कारण शरीर को साथ लिये हुए ही आत्मा जन्म जन्मांतर और लोक लोकान्तर

के उच्चावच भावोंमें इनसे संपर्कित रमण करता है और इन भावनाओं वा संस्कारों के कारण ही यह जीव तन्मयता को प्राप्त हुआ अपने वास्तविक भाव को न जान कर अन्यथा आगंतुकानुरूप यत्तदुल्लेख वाला होता रहता है। मैं मनुष्य हूं, ब्राह्मण हूं, विद्वान कुलीन धनी यूरोपादि हूं, मानता रहता है इसी प्रकार संपूर्ण जीव योनि मात्र ही नहीं वरंच ब्रह्मपर्यन्त सारे अपनी परिस्थिति के अनुसार अनुरंजित हो रहे हैं और वैसा ही अपने लिये जानते हैं। और तदनुकूल ही व्यवहार में लिप्त हो रहे हैं। अतएव उनमें पुरुषत्व सामान्य भाव से विद्यमान ही है और सत्व, रज, तमोमयी प्रकृति भी उनमें तारतम्य भाव से बनी हुई है। यहां तक कि देवत्रयी अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, में भी ये गुण विद्यमान ही माने गये हैं जो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय, के कारण इस देवत्रया में भी वही शुद्ध चैतन्य पुरुषत्व त्रिगुणावच्छिन्न रूप से व्याप्त है। इसी विषय को यजुर्वेद में पुरुष सूक्त द्वारा विशेषतया वर्णन किया गया है और समष्टि रूप से परमात्मा को पुरुष रूप मान कर उसका विवेचन और स्वरूप वर्णन भी अति रोचक और अलंकृत रूपक भाव में किया गया है। उस पुरुष को ही सपूर्ण जगत् रूप से वा मुक्त रूप से भी माना गया है। व्यष्ट जीव निज शरीराभिमानी है। वैसे ही समष्टि ब्रह्म विराट देहाभिमानी ब्रह्मा, विष्णु शिवरूपी होत हुआ ब्रह्माण्ड रूप है यह ब्रह्मांडाभिमानी त्रिमूर्ति त्रिगुणमयी विराट पुरुष ही यह सारा जगत् है जो वेद और युक्ति सिद्ध भी है। और वही त्रिमूर्ति त्रिगुणात्मक ब्रह्म पुरुष है जिसको समष्टि अर्थात् अखंडक रूप से पुरुष सामान्य तथा विराट पुरुष कहते हैं। जैसा कि, 'पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि' श्रुति द्वारा कहा गया है। वही परम पुरुष व्यष्टि पुरुषों का मूलकारण अग्नि विस्फुलिंग न्याय द्वारा व्यष्टि पुरुष रूप से या कीट ब्रह्मा पर्यन्त का अवबोधक है। और स्वप्न में जैसे व्यष्टि पुरुष अनेक विधि से देखता है सुषुप्ति वा लयावस्था में एकत्व मात्रावशेष अपने आपको देखता है। "पुरुष एवेदं सर्वं" यह निर्णय इसी प्रकार अवास्तविक अनेकत्व में एकत्व स्वरूप है। एकत्व स्वरूप में पुरुष और पुरुषार्थ ये दो बातें संभव ही नहीं सकती परन्तु व्यष्टिगतावस्था में वह अनेकत्व रूप से प्रतिभासित हो रहा है और अपने अन्य अन्य पदार्थों को मान कर अर्थ स्वरूप में उनकी कल्पना करता है और नाना विध उच्चावच भावों को अर्थ स्वरूप देकर उनमें भावनाओं की उत्पत्ति अपनी कल्पित गुणमयी, वृत्तियों द्वारा करलेता है। यही अज्ञान संसृति का मूल है क्योंकि उसी मंत्र के अन्तिम भाग में 'उतामृतत्वस्येशानो' कहा गया है जिस अमृतत्व की स्थिति में द्वैत का अत्यंताभाव है। पुरुष वा शुद्ध चैतन्य वास्तव में दो पृथक भाव नहीं है वरंच महाकाश और घटाकाश न्याय प्रतीति मात्रावच्छिन्नत्व द्वारा इस द्वैत बुद्धि को व्याप्त कर रहा है जो माया का ब्रह्म में वा अविद्या के जीवत्व भाव में अधिकरण है।

उक्त विषय से पुरुष क्या वस्तु है इसका कुछ विवेचन होगया है उसी पुरुष को असंग उदासीनत्व सत् चिदानंदात्मक स्वरूप में यद्यपि किसी, अर्थ की अपेक्षा की कल्पना करना एक असद्विचार मात्र है। जो भय बंधक रूप है तथापि इस प्रकार की कल्पना की निवृत्ति भी परम पुरुषार्थ है। मुक्ति का शास्त्र सम्मत मुख्य लक्षण "मुक्तिर्हित्वान्यथा भावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" यही है, यदि स्वरूप से वस्तुतः भिन्न मुक्त कोई पदार्थ है जो संपाद्य है तो वह अवास्तविक और

भ्रमात्मक है, क्योंकि भाष्यकारोंने कृतक मात्रको अनित्य कहा है, "यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं" हाँ इतना हमें अपनी अज्ञानावस्था में मानना उपयुक्त होता है कि कृतक वा आगंतुक को अपने वास्तविक भाव-पर से परिमार्जन करके उस के हर भावको प्राप्त करलें जरासे पुनः पुनरावृत्ति कदापि नहो। इस दृष्टिसे पुरुषार्थ का कथन एक संगत वस्तु है निम्न दृष्टान्त से इसका और भी स्पष्टी करण होसकता है एक शुभ्र अत्यन्त प्रकाशमय हीरकमणि कीचड, चिकनाई इत्यादि से लिप्त हुआ अपने स्वरूप से विलग नहीं होते भी विलगसा हो रहा है क्योंकि कीचड़ादि से लिप्त है परन्तु कीचड़ादि के अपसरण पर छट अपने वास्तविक स्वरूप से स्वयं प्रकाश-मान होजाता है।

एक और दृष्टान्त वार्ता रूप में यहां कह देना असंगत न होगा, एक राजा अपनी राजधानी में रहता था उसके पूर्व संचित पुण्य के प्रभाव से वहां एक महात्मा का निवास होगया राजा उस महात्मा के पास नित्यही आत्म स्वरूप की जिज्ञासा किया करते थे परन्तु महात्मा के शाब्दिक उपदेश से उसको आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई और उसमें वेदान्त ज्ञानके लक्षणों की उपस्थिति होने पर भी विपरीत भावना दोष के कारण से साक्षात्कार नहीं होता था। साक्षात्कार हुए बिना ज्ञातव्य की विचिकित्सा रूपी पिशाची पीछा नहीं छोड़ती है इसलिए महात्मा एक दिन उस अपने शिष्य राजा के दरबार में ऐन्द्र जालिक का रूप धारण करके पधारे और राजा को तत्वज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये एक कौतुक दिखाना प्रारम्भ किया। राजा पर इस की इच्छा का एक ऐसा प्रभाव पड़ा कि राजा प्रथम तो स्तब्धा स्था में हो गया जिस में उसको भासने लगा कि वह महल में रात्रि हो जाने पर भोजनादिक करके पर्यंक शायी हो रहा है और निद्रा ने उसको घेर रखा है परन्तु उसी अवस्था में मानो कुछ आदमी जिनमें उसका दिवान जो सब का अग्रणी है, भवन में से गुप्त द्वार द्वारा बाहर निकल जाता है और अरण्य में घूमते २ उसके पाँव छिद जाते हैं। वस्त्र फट जाते हैं, और वह क्षुधा तृषा से और पावों की व्यथा से चल पड़ता है। परन्तु चौंक पड़ने के साथ ही वह स्वप्न भी हट जाता है और देखता है तो वह ऐन्द्र जालिक वहां पर उपस्थित नहीं है वरंच उसके स्थान में वहां वही महात्मा जिनके ज्ञान की पूर्ति चाहता था उसके समक्ष खड़ी हैं। उनको देख कर राजा ने दंडवत प्रणाम किया और अनुभव भी निवेदन किया महात्मा ने कहा कि अपनी परिस्थिति में जैसा वह स्वप्न फलप्रद था वैसा ही यह जाग्रत स्वप्न भी समझो इस प्रकार समझा कर महात्मा ने राजा को तत्वज्ञान की प्राप्ति कराई।

रजनी

(ले० श्री बी० एल० सराफ बी० ए०)

संध्या का आगमन दिवस सुख को हरता है।
अंधकार का नव प्रसार भी वह करता है,
तमो देविका रूप यद्यपि भयंकर रहता है।
ऋषियों के मन मुदित ब्रह्म सुख से भरता है,
मार्ग भले ही मनुज का अंधकार पूरित रहे।
मूर्ति किन्तु तव मग्न जो 'तमो-चुक्कमग' क्या कहै ॥१॥

तारागण बहु दिखा जगत बंधन से जकड़ती।
ब्रह्म एक जग व्याप्त इसी निश्चय को हरती,
भूला उपासक वृन्द मोह से दुर्मति करती।
व्योम देह के स्वेद छिद्र तारा वह गणती,

कहते हैं जो मनुज क्या उनका तू कुछ कर सके।
एक दिखै सर्वत्र क्या उन्हें मोह में अड़ सके ॥३॥
एक देखने का प्रपञ्च अब करने लगिये।
मोक्ष मार्ग है यही किन्तु निश्चल हो सजिये,
किन्तु प्रार्थना एक हमें नहिं पीछे तजिये।
हमसे अपना देह गेह सुन्दर दृढ़ सजिये,
हमही हम सब हैं, जहां विजय श्री नहीं रहेगी।
मोक्ष, प्रेम, भ्रातृत्व की सरिता नहिं वह कहेगी ॥४॥

मानव-कर्म तथा भगवान् की पूजा।

[ले० श्री मोतीलाल जी केजड़ीवाल]

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान कृष्ण ने अखिल मानवजाति को अर्जुन के द्वारा संदेश दिया है:—

अनित्यमसुखंलोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। अ० ९ श्लोक ३३

अर्थात् इस अनित्य क्षणभंगुर तथा दुःख पूर्ण मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर मुझे (ईश्वर) भज। श्रीमद्भगवद्गीता के नवम अध्याय में वर्णित राजविद्या और राज गुह्य का अंतिम श्लोक अत्यंत ही महत्व का है। जिस दया निधान परमेश्वर ने दया करके मनुष्य का शरीर दिया है उस सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपासना, उसकी पूजा तथा अर्चना करना मनुष्य का प्रधान धर्म है तथा होना भी चाहिये। संसार में उस दीनबन्धो के भक्तों ने सृष्टि के आदि से लेकर आजतक अपनी अपनी बुद्धि और भावना के अनुसार अनेकों प्रकार निकाल लिये हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है जिस समय भगवान् कृष्ण ने पापी कंस को मारने के लिये रंग भूमि में प्रवेश किया उस समय उनका स्वरूप उपस्थितजन समुदाय को अपनी २ हृदय की भावना के अनुरूप दिखाई पड़ा। भगवान के उस दिक् स्वरूप का दर्शन किसी ने शिशु स्वरूप से, किसी ने मूर्तिमान व्रज तुल्य शरीर वाले के रूप से, किसी ने महाकाल मृत्यु स्वरूप से, किसी ने विहार रूप से तथा किसी ने परम तत्व रूप से किया। इसी प्रकार उन भक्त ज्ञानी तथा जिज्ञासुओं ने जिन भावों को हृदय में धारण करके अनन्य भाव से पुकारा तथा उसकी खोज की उस ही की श्रद्धा को परमात्मा ने उसके हृदय में दृढ़ करके उसही स्वरूप में उसको दर्शन दिये तथा कामनापूर्ण की। श्रीमद्भागवत में वर्णित गोपियों ने जिस भाव से उसका चिन्तन किया उसी रूप में उनको पाया, राक्षसों ने जिस स्वरूप से उनको देखा उस ही स्वरूप से उनको पाया। "ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहं" के अनुसार जिस प्रकार से जो उनको खोजता है उसी प्रकार से वे उनको प्राप्त होते हैं। अर्जुन "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" भाव से जब भगवान के शरणागत हुआ तो उसको अभय देकर ज्ञान मुद्रा धारण किये हुए अर्जुन को निमित्त लेकर सारे मानव समाज को कल्याण का संदेश सुनाया उस संदेश को भी लोगों ने अपनी दुर्गत भावना के अनुसार समझा। किसी ने कहा कि इसमें संन्यास लेकर संसार के सारे कर्मों छोड़ देना ही कहा गया है। किसी ने कहा कि इसका प्रधान प्रतिपादित विषय भक्ति ही है। किसी को इसमें कर्म योग का संदेश मिला, खैर जो भी हो।

'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया"

नटवर ही सब को अनेक प्रकार नाच नचा

रहा है। उसही विभु की प्रेरणा से प्रेरे हुए लोग कार्य्य कर रहे हैं। सारे संसार की नदियों का प्रवाह भले ही उसका उद्गम स्थान मान सरोवर से हो भले ही हिमालय से भले ही आल्प्स पर्वत से परन्तु वह प्रवाह जाकर समुद्र ही में गिरता है उसी प्रकार जितने भी मार्ग और युक्तियाँ ईश्वर प्राप्ति की जानी और सोची गई हैं सब का मूलोद्देश्य तो एक ही है। सारे संप्रदायों की उपासना भिन्न भिन्न होते हुए भी ध्येय तो एक ही है। अस्तु, अब मैं अपने मुख्य प्रति पादित विषय की ओर ही आता हूं। इस क्षण भंगुर मनुष्य शरीर को पाकर परमात्मा का अर्चन पूजन करना उसके परायण होना, उसी में मन और बुद्धि को लगाना ही इस शरीर को पाकर इसका सदुपयोग करना है। इस बात को प्रायः सारे संप्रदाय वाले मानते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा का अर्चन पूजन किस प्रकार किया जाय एवं किस प्रकार मन और बुद्धि को उसमें लगा कर उसके परायण हों, इसके लिये भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के अठारवें अध्याय में समूची श्रीमद्भगवद्गीता का निचोड़ है कहा है:-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वं मिदं ततम।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अध्याय-१८-श्लोक

अर्थात् जिस परमात्मा से संपूर्ण भूतप्राणियों की प्रवृत्ति हुई है तथा जिसके द्वारा यह संपूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है उस परमात्मा को अपने कर्मों द्वारा पूज कर ही मनुष्य सिद्धि को अर्थात् परमगति को प्राप्त होता है। इस मंत्र के द्वारा सारे संसार को साफ साफ बतला दिया गया है कि जो कर्म मनुष्य जाति को करने के लिये भगवान ने आदेश दिया है उन कर्मों को अविश्रान्त रूप से फलाशा को त्याग करके सुख पूर्वक करते रहना ही भगवान की पूजा, सेवा अथवा अर्चना जो भी कहिये है। अगर मनुष्य कर्म न करे तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती। समझ में नहीं आता उन महानुभावों की बुद्धि में क्या समाया है जो ईश्वर द्वारा बताये कर्मों को न कर सिर्फ गोमुखी में हाथ देकर चक्र की तरह माला फिराने रूपी कार्य्य को ही जीवन का असली कार्य्य समझे बैठे हैं, जिनके सन्मुख देश-सेवा तथा समाज सेवादि का कार्य्य फजूल है। परन्तु यह विषय दूसरा हो जायगा इसलिये इस पर फिर कभी लिखा जायगा। अभी तो प्रति पादित विषय यह ही है कि ईश्वर के बताये मार्ग पर चलना ही धर्म कहलाता है तथा ईश्वर की अर्चना तथा पूजा करना कहलाता है। ईश्वर द्वारा बताये हुए करने योग्य कार्य्य कौन है? यज्ञार्थ कर्म करना, आत्मशुद्धि करना, परोपकार करना तथा अपने अधिकारों की रक्षा करना इत्यादि इत्यादि बातों के उपदेशों से श्रीमद्भगवद्गीता भरी हुई है। मनुष्य संसार में जन्म लेने के बाद होश संभालने के बाद से अपनी जीवन यात्रा इसी पावन उद्देश्य से करे कि इस शरीर से निष्काम भाव से उल्लिखित सारे कार्य्य संपादन करने हैं, भगवान् के बताये मार्ग पर चलना है, यदि इस पंचभूतात्मक शरीर की रक्षा न की जायगी तो इन पवित्र उद्देश्यों की पूर्ति होनी एकांत रूपेण असंभव है, इसलिये शरीर की रक्षा के लिये ही पेट में अन्न देता हूं तथा उस अन्न की प्राप्ति के लिये ही कमाता हूं। अगर संसार में रह कर मनुष्य धन कमाता है तो उसके हृदय में यह ही भाव रहना चाहिये कि मैं परोपकारार्थ अर्थात् यज्ञार्थ ही धन कमाता हूं। अगर किसी दूसरे व्यक्ति से अपने अधिकारों की रक्षा के लिये लड़ना

भी पड़े तो भी यही भाव रहना चाहिये, अधिकारों की रक्षा करना मेरा परम कर्त्तव्य है, तथा सुख दुख लाभ हानि और जय पराजय को समान मान कर अपने स्वत्वों की रक्षा करे, इस प्रकार सारे कर्मों को जो संसार में करने योग्य है अपना कर्त्तव्य जान कर ही करे सो भी निष्काम भाव से। इस प्रकार परमात्मा कृष्ण के बताये मार्ग पर चलना ही उसकी पूजा अर्चना करना है। हृदय में त्याग का भाव होना चाहिये परोपकार एवं निष्काम सेवा की प्रज्ज्वलित इच्छा, आत्मशुद्धि करने की अविश्रान्त चेष्टा तथा भगवान की प्रतिमा के सन्मुख भोग लगाने के बदले में भूखे भारत वासियों स्वदेश वासियों की उदरदरी में प्रज्ज्वलित वैश्वानर अग्नि को जो भगवान् ही है जिसके लिये अपने श्रीमुख से उन्होंने संसार वृक्ष का वर्णन करते समय पन्द्रहवें अध्याय में कहा है:-

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

अध्याय-१५-श्लोक

अर्थात् मैं ही वैश्वानर नाम अग्नि होकर प्राणियों के देह के आश्रित होकर प्राण अपान वायु को समान करके चारों प्रकार के खाये गये अन्न को पचाता हूं। ऐसी जठराग्नि को जो करोड़ों भारतवासियों के पेट में भभका करती है उसीको तृप्त करने की (एक दिन के लिये नहीं सदा के लिये) चेष्टा, इत्यादि कार्यों के लिये प्रयत्न शील रहना ही भगवान् की सच्ची पूजा अर्चना है। डींग तो मैं कैसे कहूं, परन्तु महान आश्चर्य होता है उन भक्त समूहों के कृत्यों पर कि जो सिर्फ गंगा स्नान, बाहरी शौच, तिलक छापा लगाना आदि कृत्यों को ही मुख्य समझते हैं, जीवन में अपने ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य की इतिश्री इतने में ही समझते हैं अन्य कार्य्यों की ओर जैसे देश-सेवा समाज-सेवा परोपकारादि कार्य्यों की ओर दृष्टि भी नहीं डालते कह देते हैं "भजन करो" "भजन करो" सब कुछ हो जायगा इन सब कामों में क्या रक्खा है इत्यादि और तरस भी आता है इन पर जब देखते हैं कि भजन के प्रचारक भगवान् के प्यारे, अपने तथा अपने परिवार की पेट मात्रा तथा सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये भगवान का तथा भगवान के भजन का भरोसा नहीं करते, छल छन्द रखते हैं अन्याय से द्रव्य उपार्जन करते हैं, गरीब स्वदेश वासियों के मार्ग में रोड़ा अटकाते हैं, गला घोटते हैं तथा गरीबों के मुंह की रोटी छीनते हैं। सिर्फ देश सेवादि कार्य्यों के समय कह देते हैं। "भजन करो" ये सारी बातें फालतू हैं। ये बातें तो उन लोगों की है जिनको अधिकांश धार्मिक समझते हैं। अस्तु लिखने का तात्पर्य यह है कि जिस परब्रह्म की असीमदया से मनुष्य की योनि मिली है, जिसके लिये नर देह की प्राप्ति के लिये देवता भी कामना किया करते हैं उस योनि को प्राप्त होकर परमात्मा की सेवा, अर्चना करनी ही अपने जीवन का चरमोद्देश्य समझना चाहिये। और परमात्मा की बताई हुई बातों को चलना परोपकार करना ही परमात्मा की एक मात्र सेवा पूजा है अन्य कर्मों की नहीं। यह तो हुई भगवान् की सेवा की बात, ध्यान करना भी मनुष्य के लिये जरूरी है। यह तो एक अनुभव सिद्ध बात है कि बिना ध्यान पूर्वक कोई भी कार्य्य यथोचित रीति से संपन्न नहीं होता है उसी प्रकार बगैर ध्यान के भगवान की सेवा, पूजा भी नहीं हो सकती। पुराणों में कथा है, देवासुर संग्राम हुआ करता था, कभी राक्षसों के बलवान होने के वजह से देवतागण पराजय होते थे और राक्षस विजय

प्राप्त करके स्वर्ग का साम्राज्य भोगते थे देवताओं को निकाल देते थे तब देवतागण दुखी होकर भगवान विष्णु की शरण जाते थे उनका ध्यान करते थे तब वे ईश्वर के अभय देने पर उनकी दया से राक्षसों से लड़कर उन पर विजयी होते थे। पुनः स्वर्ग के साम्राज्य को अपने अधिकृत करते थे और राक्षस वहां से पलायन होजाते थे। इसका मतलब कुछ दूसरा ही है पुराणकारों ने इस शरीर को-मनुष्य शरीर को स्वर्ग की उपमा दी है। शरीर धारियों में मनुष्य ही श्रेष्ठ है इस बात को धर्म शास्त्रों में कई बार दोहराया गया है। इसलिये इस मनुष्य शरीर को स्वर्ग कहना चाहिये। इस स्वर्ग के साम्राज्य पर देवताओं का आधिपत्य है। अर्थात् यथार्थ में इस मनुष्य शरीर पर देवताओं का ही अधिकार है जैसे मनुष्य के लिये जो उत्तम उत्तम कर्म बतलाये गये हैं वे सारे दैवी संपदा के ही हैं। इस शरीर रूपी स्वर्ग पर राक्षसों का आक्रमण होता है अर्थात् दैवी संपदापर आसुरी संपदा बलवती होती है यानी इस शरीर में ही सुवृत्ति और कुवृत्ति का युद्ध होता है जिसके फल स्वरूप कभी दैवी सम्पदा कमजोर पड़जाती है तो आसुर सम्पदा को दबाकर देवी सम्पदा बलवती होजाती है तब दैवी सम्पदा का अधिकार इस साम्राज्य पर हो जाता है। कहा जाता है कि देवता जब हार जाते थे तब क्षीर-सागर में रहने वाले विष्णु के पास जाकर ध्यान करते थे एवं पुरुष सूक्त के मंत्रों से स्तुति किया करते थे। तब भगवान उनको अभयदान देते थे तथा उनकी ही कृपा से देवतागण फिर राक्षसों से लड़कर उन पर विजय प्राप्त करते थे तथा अपने साम्राज्य को हस्तगत करते थे। इसी प्रकार इसी शरीर रूपी स्वर्ग में राक्षसों को उत्पात होता रहता है अर्थात् राक्षसी आसुरी सम्पदा हर एक जीव को प्रलोभन दिया करती है इसलिये उचित है ध्यान करना। हृदय रूपीक्षीर सागर में स्थित परमात्मा का मनुष्य नित्य प्रति-ध्यान करे तथा आर्त होकर पुकारे प्रभो! मैं तो पतित हूं पापी हूं आप पतित पावन हो हृदय स्थित पाप समुहों का नाश करो और सुबुद्धि दो ताकि आपके बताये मार्ग पर दृढ़ होकर चल सकूं। जिस प्रकार देवतागण भगवान् का ध्यान करके उनकी सहायता से राक्षसों पर विजयी हुए थे उसी प्रकार हम भी ईश्वर सर्वशक्तिमान प्रभु का ध्यान करेंगे तो हम आसुरी सम्पदा पर विजय प्राप्त कर सकेंगे और दैवी सम्पदा का अधिवय होने से ही भगवान की सेवा अर्चना अच्छी प्रकार हो सकेगी इसलिये ध्यान करना भी आवश्यक है। इसलिये ध्यान करके हृदय में अच्छे अच्छे भावों को स्थान देना, अच्छे २ कार्यों को कर्त्तव्य जानकर वर्तना रूपी भगवान् की अर्चना करके ही मनुष्य परमगति को अर्थात् शाश्वत स्थान को प्राप्त हो सकता है तथा मनुष्य जीवन धारण करने के कार्य्य को सफल कर सकता है तथा अन्त में उसी स्थान को प्राप्त होता है जिसके लिये भगवान् कहते हैं:-

मद्गावा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

जहां से प्राणी लौट कर नहीं आतावही मेरा परम धाम है।

———

तन्मयता

[रचयिता श्रीमती ब्रजकुमारी 'प्रभाकर']

जब रंग दुई का दूर हुआ तब आपन आप मिलाया है।
जब साँचा प्रीतम खोजलिया जब जगमें कौन दुराया है॥
थल जल कानन देश विदेश प्रीतम नैनन छाया है।
प्रेम सुधारस धार बह हिय ओत प्रोत हो धायाई॥
देश न भेष नहीं दुख लेश अनिमेष लखे पी व्यापा है।
हृदय कमल में दिव्य प्रकाश निरन्तर जगमग व्यापा है॥
शून्य शिखर में लाय समाधि ओऽहम् सोहम् जापा है।
आठौं याम निरन्तर निशिदिन आनन्द उरमें व्यापा है॥
जब चास उसास भरे लख अब 'ब्रज' हो के अमृत व्यापा है।
जहँ प्रेमी प्रीतम एक भये जग द्वन्द मिटे उब आपा है॥

भक्त माधवदास जी।

(ले० श्री यमुना प्रशाद श्रीवास्तव नरसिंहपुर)

माधवदास जी जाति के कनोजिया ब्राह्मण और ज्ञान-निष्ठा के भक्त थे। ईश्वर पर उनका अटल विश्वास था। भक्ति के तो मानो वे अवतार ही थे। उन्होंने सैकड़ों को तारा, सहस्रों को उबारा, और लाखों को भवसागर के पार उतारा। दैवयोग से उनकी स्त्री मरगई। घरवालों ने उनका विवाह करना चाहा परंतु माधवदास जी ने कहा:-

'हरिइच्छा भावी बलवाना'।
विवाह करने की अब मौज नहीं रही॥
'अब तो अवलम्बन एक यही।
मुरलीधर भगवान हिय धरिये॥
ब्रज सुन्दर श्याम पितम्बर को।
निशि वासर खूब भजन करिये॥

इस प्रकार कोरा उत्तर देकर माधवदास जी जगन्नाथपुरी चले आये। भगवान के मंदिर में गये और दर्शन कर स्तुति की।

'शरण शरण प्रभु! शरण तिहारी।
दीनदयालु कृपालु मुरारी॥'

फिर समुद्र तट पर आबैठे। न कहीं आये न गये, तीन दिनतक बिना अन्न जल के बैठे रहे। चौथे दिन भगवान थाल में प्रसाद लेकर आये और माधवदास जी को देकर अन्तरध्यान होगये।

माधवदास जी ने भगवान की स्तुति की, प्रसाद पाया, और थाल को वहीं डालदिया।

थाल सोने का था। भोर होते ही खोज हुई खोजते २ पुजारीलोग समुद्र तट पर आये। थाल को माधवदास जी के पास देखकर बहुत बिगड़े उन्हें मारापीटा और थाल उठाकर चले आये।

भगवान को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने स्वप्न देकर पुजारियों से कहा:-

माधवदास मेरा बड़ा भक्त है। मैं स्वयं थाल में प्रसाद रखकर दे आया था। तुमने उसे व्यर्थ ही मारा पीटा है। अभी जाओ और उसे मना कर ले आओ!

पुजारी लोग माधवदास जी के पास आये। स्वप्न का हाल उनसे कहा, क्षमा याँचना की और अपने साथ चलने के लिये प्रार्थना की। माधवदास जी राजी होगये और पुजारियों के साथ मंदिर चले आये। भगवान के दर्शन किये और इस प्रकार स्तुति की।-

अजन्मु हो अमर्नु हो, अशेष अन्तु सर्नु हो।
अनादि अन्त हीन हो, तु नित्य ही नवीन हो॥
अरूप हो अमेय हो, अमाप हो अभेद हो।
निरीह निर्विकार हो, सुमध्य अध्यहार हो॥

अकृत्य हो अखंडितै, शेष कोव मंडितै।
समस्त शक्ति युक्त हो, सुदेव देव मुक्ति हो॥

फिर वहीं मंदिर में रहने लगे। वे वहीं खाते पीते थे और मंदिर की दहलीज में पड़े रहते थे।

३

जाड़े का मौसम था। एक रात्री में माधवदास जी को भी जाड़ा मालूम हुआ। भगवान से उनका कष्ट देखा न गया। वे स्वयं अपने ओढ़ने की रजाई लेकर आये और माधवदास जी को उढ़ाकर अन्तरध्यान होगये। प्रातःकाल भगवान की रजाई माधोदास जी को ओढ़े हुये देखकर पुजारीलोग कानाफूसी करने लगे और कहने लगे कि मन्दिर बन्द है ताला बन्द है इसपरभी भगवान की रजाई बाहर आगई है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। इतने में महन्त जी को थालवाली घटना याद आई। उन्होंने उसपर ख्याल देकर कहा:- हो न हो भगवान ही अपनी रजाई लेकर आये हैं और माधवदास जी को उढ़ाकर चले गये हैं। भगवान ने पुजारियों को पहले ही सावधान करदिया था इसलिये उन्होंने छेड़ छाड़ नहीं की और सब चुप हो रहे।

'जानकी नाथ सहाय करें तब कौन बिगाड़ करै नर तेरो।

भगवान की अपार दया पाकर माधवदास जी प्रेम में मग्न थे उन्हें अपने तन बदन की भी सुधी नहीं थी। कुछ दिन उन्होंने इसी प्रकार व्यतीत किये फिर वे अपने प्राचीन निवास-स्थान को जो समुद्र तट पर था चले आये।

४

समुद्र तट पर पहुंचते ही माधवदास जी को ओव पड़ने लगी। मल मूत्र अधिकता से होता था। दो दिनतक वे उसी में लथपत पड़े रहे। तीसरे दिवस भगवान आये, माधवदास जी का शरीर धोया, उसे पोंछ-पांछ कार स्वच्छ किया और माधवदास जी को दवा पिलाकर अन्तरध्यान होगये।

माधवदास जी को जब होश हुवा तब वे आश्चर्य में भरकर कहने लगे:-

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिन सेवा जो द्रवे दीनपर, राम सरिस कोउ नाहीं॥'

और कोई नहीं-अनाथों के नाथ भगवान ही हैं- उन्होंने ही मुझे भोजन खिलाया था! उन्होंने ही मुझे रजाई उढ़ाई थी। उन्होंने ही मेरा शरीर धोया और पोंछ पाछ कर स्वच्छ किया है। दवा भी उन्होंने ही पिलाई है!

'धन्य! धन्य! प्रभु! धन्य हो धन्य! गरीब निवाज।
जित पावन पनहो नहीं, तिनहिं देत गजराज॥
को यश तुम्हरो कहसरे, तुमहो दीनदयाल।
नेक दया की दृष्टि से क्षण में करत निहाल॥

दूसरे दिन जब भगवान फिर आये और शरीर धो-धाकर दवा पिलाने लगे तब माधवदास जी ने उनके चरण पकड़ लिये और गिड़ गिड़ा कर विनती की:-

'भगवान! मुझे काटों में घसीटते हो? इससे तो सेवक की सेवकाई तथा प्रभु की प्रभुताई में धब्बा लगत है!

भगवान हंसे और कहने लगे।

स्वामी वही है जो सबकी सेवा करे। मेरा धर्म भी तो यही है।

"दास दुखी तो मैं दुखी, आदि अन्त तिहुं काल।
पलक एक में प्रगट हैं, क्षण में करूं निहाल"

माधवदास जी ने कहा:-'भगवान! फिर औषधी पिलाने की क्या आवश्यकता थी! यह रोग तो आपकी दया दृष्टि से दूर हो सकताथा।"

भगवान ने कहा:-'निःसन्देह! इसमें कोई संदेह

नहीं है। परंतु प्रारब्ध का भोग भी तो भोगना पड़ता है। क्योंकि बिना भोगे तन और मन में शुद्धता नहीं आती! हाँ! इतना अवश्य होता है कि सूली का कांटा और मन की रत्ती हो जाती है।

माधवदास जी ने भगवान की स्तुति की:-

'तू दयाल, मैं दीन हों, तू दानि मैं भिखारी।
हों प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुन्जहारी॥'

भगवान भी अपनी अटल भक्ति का वरदान देकर अन्तर्धान हो गये। उस दिन से भगवान के ऊपर माधवदास जी श्रद्धा और भी बढ़ गई।

५

अब माधवदास जी से बैठे नहीं रहा गया। वे एक स्त्री के द्वार पर पहुंचे और उससे भिक्षा याचना की माई! कुछ साधु के लिये।

स्त्री का स्वभाव बड़ा चिड़ चिड़ा था। वह उससमय चौका लगा रही थी। उसने क्रोध में आकर हाथ में जो पुतना था उसी को फेंक कर मारा वह आकर माधवदास जी के मुंह में लगा। इसपर माधवदास जी ने आशीर्वाद देकर उससे कहा।

माई! ऐसी भिक्षा आजतक किसी ने नहीं दी। इससे मेरा अहङ्कार दूर और मन निर्मल होगया। भगवान तेरा भलाकरे।

यह आशीर्वाद देकर माधवदास जी आगे बढ़े और समुद्र तट पर जा पहुंचे चिथड़े को खूब धोया और स्वच्छ किया फिर मंदिर में लाकर बत्ती बनाई उसको जलाकर आरती उतारी और हाथ जोड़ विन्ती की:-

'जाकी सहाय करी करुणानिध, ताको जग में भाग बदेरे।'

बत्ती के प्रकाश से सारा मंदिर जगमगा उठा। स्त्री के हृदय पर भी प्रभाव पड़ा। वह माधवदास जी के पास दौड़ी आई, गिड़ गिड़ा कर विन्ती की और क्षमा याचना की फिर अपने घर लाकर बड़े प्रेम से भोजन कराया।

माधवदास जी ने उसकी सेवा से संतुष्ट होकर उसे दीक्षा दी और अपनी चेली बनाकर भगवद्भक्ति का उपदेश दिया जिसके फलस्वरूप कुछ ही दिनों में उसका चिड़ चिड़ापन जाता रहा और वह भगवान की सच्ची भक्तिनी होगई।

६

माधव दास जी की भक्ति और पंडिताई की धूम पुरी भर में मच रही थी। इनकी प्रशंसा सुनकर एक पंडित भी इनके पास आया और शास्त्रार्थ करने के लिये आग्रह करने लगा।

माधवदास जी का स्वभाव सीधा-सादा था।-

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई।
यथा लाभ संतोष भलाई॥

उन्होंने कहा भाई! व्यर्थ समय नष्ट करने से क्या लाभ? कागज लाओ मैं अभी लिखदेता हूं कि तुम जीते और मैं हार गया। पंडित ने कागज लाकर दिया। माधवदास जी ने मोटे अक्षरों में लिखदिया।

'पंडित जीता माधवदास द्वारा।'

विजय का डंका पीटता हुआ पण्डित काशीजी आया और वहां के पंडितों को वह विजय पत्र दिखाया उन्होंने उसे पढ़ा तो उसमें यह लिखा था:-

"पण्डित हारा माधवदास जीता।"

यह देख पंडित की क्रोधाग्नि भभक उठी वह दौड़ता हुआ माधवदास जी के पास आया और कहने लगा। तुम बड़े धूर्त हो। तुम्हें धूर्तता का मजा चखाये बिना न रहूंगा। आज तुम्हें अवश्य हराऊंगा और तुम्हारा मुंह काला करके तुम्हें गधे पर चढ़ाऊंगा और नगर में फिरा कर संसार को

दिखादूंगा कि बगुले भगत ऐसे होते हैं और इस प्रकार लोगों को ठगते हैं।'

माधवदास जी ने कहा 'भाई ! यह तो भगवान् की इच्छा है। मुझ में इतनी सामर्थ नहीं है जो तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ करूं। अच्छा ! कागज लाओ अब जो तुम कहो वही मैं लिख दूंगा।'

पण्डित ने कहा अब मैं एक न सुनूंगा। तुम्हें शास्त्रार्थ में हरा कर ही दम लूंगा। बस अब तैय्यार होजाओ। मैं अभी स्नान करके कर आता हूं। पण्डित समुद्रतट पर स्नान करने गया। पीछे से भगवान् भी माधवदास जी का रूप धारण कर उसके पास जा पहुंचे और ललकार कर बोले ले ! मैं आगया। अब शास्त्रार्थ करले। यदि तू हारेगा तो तेरी भी वैसी ही गत करूंगा जैसी की तू मेरी करने को कहता है। पंडित अपनी पंडिताई पर फूला था। भगवान् को बचन-बद्ध कर वह शास्त्रार्थ करने लगा। भगवान ने भी ऐसी २ युक्तियों से काम लिया और ऐसे २ प्रमाण दिये कि सुनने वाले दंग रह गये और पंडित ने भी हार मानली। पंडित को हारा देख कर लोगों ने उसका मुंह काला किया, उसे गधे पर चढ़ाया और नगर में फिराने को ले चले।

इतने में माधोदास जी भी आपहुंचे। भगवान् को अपने भेष में देख कर, त्राहिमाम् ! त्राहिमाम् ! कहते हुऐ उनके चरणों पर गिरे और इस प्रकार वन्दना करने लगे।

'वन्दो श्री हरि पद सुख दाई।
माधव के प्रभु करुणामय बारम्बार नमोंतिहि पाहीं॥

और यह कह कर पंडित का अपराध क्षमा कराया:-

प्रभु ! अवगुण चित न धरो।
समदर्शी है नाम तिहारो, बहि को पार करो॥

भगवान् हंसे और एवमस्तु ! कह कर अन्तर्धान हो गये।

७

अब तो माधोदास जी के साथ लोगों की भीड़ रहने लगी। भजन में विघ्न पड़ता देख वे व्रत को चले आये। मार्ग में भिक्षा लेने के लिये एक स्त्री के यहां ठहर गये। उसने बड़े प्रेम से भोजन कराया। भोजन करते समय स्त्री ने देखा कि माधवदास जी के पीछे पांच वर्ष का भोला भाला सुकुमार श्याम रंग का एक बालक खड़ा है। उसे देख स्त्री ने पूछा।

महाराज ! यह बालक किसका है ? इसके माता पिता कैसे हैं ? जिन्होंने इसे आपके साथ कर दिया है। यह आपके साथ पैदल कैसे चलता होगा ? माधवदास जी ने देखा तो सच मुच में भगवान् श्रीकृष्ण जी खड़े थे : भगवान् की लीला समझ कर उन्होंने स्त्री से कहा:-

माई ! तू चिन्ता मत कर। यह बालक मुझ से अधिक हिल गया है इसी से यह मेरे पीछे २ लगा फिरता है यह अपनी स्थिति खूब समझता है और अपनी सम्हाल आप कर लेता है। इस प्रकार स्त्री का समाधान कर माधव दास जी आगे बढ़े।

८

एक साहूकार के प्रार्थना करने पर माधव दास जी उसके घर गये। साहूकार कहीं बाहर गया था। उसकी स्त्री घर में थी। वह दौड़ी आई और माधवदास जी के पांव पर गिर पड़ी। अनन्तर कुशलक्षेम पूछ, महन्त से जो कोठे पर रसोई बना रहा था कहा कि एक साधु और आगये हैं उनके

निमित्त भी भोजन बनाली। महन्त ने कहा अब यहाँ किसी की रसोई नहीं बन सकती। इसकी भनक माधवदास जी के कानों में भी पड़ी। उन्होंने स्त्री से कहा 'माई अब भोजन करने की इच्छा नहीं रही। तू थोड़ा सा दूध लादे हम उसी का भोग लगा लेवेंगे।

स्त्री दूध ले आई। माधवदास जी ने भोग लगाया और प्रसाद पाकर स्त्री को आशीरवाद दिया फिर उससे विदा मांग आगे बढ़े।

इतने ही में साहूकार घर आया। स्त्री से माधवदास जी के आने का हाल सुन कर बड़ा दुःखी हुआ। दौड़ता हुआ माधवदास जी के पास पहुंचा। हाथ जोड़ विन्ती की और घर चलने के लिये आग्रह करने लगा। माधवदास जी ने कहा-बच्चा! चिन्ता मत कर। तेरी स्त्री बड़ी भाग्यवान है। उसने मेरा यथोचित सत्कार कर दिया है।

इतने में महन्त भी आ पहुंचा अपने कटु वचनों के लिये पश्चात्ताप प्रकट करके उसने क्षमा याचना की। माधवदास जी न कहा बाबा! अब ठहरने की इच्छा नहीं रही। कुछ दिन वृन्दावन में रह कर सन्तों का प्रसाद ग्रहण करना है। इसके बिना चैन नहीं है। इस प्रकार दोनों को समझा बुझा कर वृन्दावन चले आये।

९

वृन्दावन की छटा निहारते हुए माधवदास जी बांके बिहारी जी के मन्दिर में पहुंचे और भगवान के दर्शन कर स्तुति की।

दयामय दीन दुख भंजन, कृपा निधि भक्त मन रंजन।
जगत में कष्ट बहु पाया, शरण में आपकी आया।
पतित की लाज रख लीजे, कमल पद की शरण दीजे॥'

पुजारियों ने प्रसाद में चने दिये। उन्हीं को लेकर माधवदास जी यमुनातट पर आये और भोग लगाकर प्रसाद पाया।

मन्दिर में भी भोग लगाया गया परन्तु बाँके बिहारी जी ने उसे ग्रहण नहीं किया। और पुजारियों को स्वप्न देकर कहा अब तो माधोदास जी का लगाया हुआ चनों का भोग ही भा गया है तुम्हारे भोग की रुचि नहीं रही।' तब पुजारियों का अपनी त्रुटि मालूम हुई। वे माधवदास जी के पास आये। पांव पर गिरे, क्षमा याचना की और अपने साथ उन्हें मन्दिर में लिवा लाये। मन्दिर में पहुंच कर माधवदास जी ने भगवान् की स्तुति की:-

'धन्य! धन्य! प्रभु अन्तर यामी,
नारायण त्रिभुवन के स्वामी।
निर्गुण निर्विकार अविनाशी,
लीला सगुण गुणन की राशी॥
तव गुण रूप अनन्त प्रभु! हौं अज्ञान जगदीश।
यों स्तुति करके प्रेम से माधव नायोशीश॥'

तब जाकर भगवान् ने भोग स्वीकार किया और माधवदास जी को अटल भक्ति का वरदान दिया उस दिन से पुजारी लोग माधवदास जी का उचित सत्कार करने लगे।

१०

ब्रज की परिक्रमा करते हुये माधवदास जी भाड़ागावों में खेमजी साधु के आश्रम में पहुंचे। उसने इनका स्वागत तो नहीं किया वरन भोजन देने में भी आना कानी करने लगा। यह देख माधव दास जी वहां से चले आये और गांव के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर भगवान का भजन करने लगे।

खेम जी ने उस दिन खीर पकाई थी। जब वह खाने को बैठा और थाली परोस कर सामने आई तब चाँवलों के स्थान में उसे कीड़े रेंगते हुये दिखाई दिये।

खेम जी साधु अवज्ञा का यह प्रत्यक्ष फल देख कर बड़ा दुखी हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ माधवदास जी के पास आया। क्षमा याचना की। माधवदास जी ने उसे छाती से लगाया और यह उपदेश दिया:-

अग्नि आँच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार।
नेह निबाहन एक रस, महा कठिन व्योहार॥
गति दै मति दै हेतु दै, रसु दै, जसु दै दान।
तनु दै, मनु दै, सीसु दै, नेह न दीजे जान॥

फिर खेम जी से विदा हो आगे बढ़े।

इस प्रकार परिक्रमा करते हुये, माधवदास जी हरियाना गाँव में पहुंचे। वहां वैरागियों का बड़ा अखाड़ा था। उसमें गायें बहुत थीं और नित्य प्रति भगवान् की कथा होती थी। कथा सुनने के लिये माधवदास जी वहाँ ठहर गये। ऊले पायने की सेवा दी गई। माधवदास जी प्रति दिन कथा सुनते थे और ऊले थापते थे। एक दिन किसी साधु ने इनको पहचान लिया और उनके चरणों पर गिरा। महन्त जी भी आये और पश्चात्ताप कर क्षमा याचना की। माधवदास जी ने सब को धैर्य्य बन्धाया और कई दिनों तक वहां रह रह कर कथा सुनाते रहे।

इसके पश्चात् माधवदास जी अपने घर आये। सगे सम्बन्धियों से मिले और उन्हें उपदेश देकर भगवान् का भक्त बनाया।

मार्ग में महन्त वाले साहूकार का घर पड़ता था। स्वप्न द्वारा अपने आने की सूचना देकर उसके स्थान पर पहुंचे। उसे दीक्षा दी और अपना चेला बनाया।

इस प्रकार व्रज की परिक्रमा पूरी करके माधवदास जी जगन्नाथपुरी लौट आये और जीवन पर्यन्त वहीं रह कर भगवान का भजन करते रहे।

माधवदास जी के जीवन काल में ऐसी २ अनेक घटनाएँ हुई हैं। कोई कहाँ तक लिखे भगवान् की लीलाएँ बड़ी विचित्र हैं।

आदि अनादि अनन्त अति, अगति गति अजनाथ।
को हम जानत हार हैं, सब प्रभु ही के हाथ॥'

धन्य हैं माधवदास जी आपको! और धन्य है आपकी भक्ति को।

प्रभो! एक बार हमको भी दर्शन दीजिये और अपनी अटल भक्ति का वरदान देकर कृतार्थ कीजिये।

बोलो! भगवान श्रीकृष्णचन्द आनन्दकन्द बाँके बिहारी जी की जय। जय!! जय!!!

प्रभु महिमा

(ले० शान्त स्वरूप वर्मा मेरठ)

सुन्दरी नवेली सम प्रकृती बधूटी नित्य।
मन में निहारे जिस ललित ललाम को॥
उदधि गरज और चपला कड़क कर।
नित्य ही बुलावे जिस लीला छवि धाम को॥
पक्षी भी सुना के निज मधुर रसीली तान।
देते धन्यवाद नित्य जिस गुण ग्राम को॥
ऐरे मन मूढ़ तज आलस प्रमाद उठ।
प्रेम से पुकार उस प्रभु के सुनाम को॥

प्रार्थना

हे प्रभु तू बड़ा दाता है. ज्वार भाटा के समुद्र की बाढ़ की भान्ति तूने मेरे दामन को लबालब भर दिया है। तेरे अनन्त दानों से मेरे हृदय का हौज़ किनारों तक लहरें मारने लगा है। तेरे इन अहसानों को मैं सम्हाल नहीं सकता और अब यह किनारों से उमड़ कर बहा जारहा है। तेरे इस दान को सम्हालने की मुझ में सामर्थ्य नहीं है. तेरे अनन्त अहसानों से मैं दबा जारहा हूं। तेरी दात इतनी बड़ी है कि उसके मांगने की मुझ में शक्ति शेष नहीं रही है। आज तक मेरी कई ऐसी इच्छा नहीं जो तू ने पूर्ण न की हो। मांग से अधिक देने वाला तेरे सिवाय और कौन है। हे प्रभो अब तेरे दरबार में मेरी बड़े विनम्र भाव से प्रार्थना है कि "तू अपनी इस दात को समेट ले और अपने इस दान के दरवाजे को बन्द करले" मैं तेरी दी हुई नेमतों के उपभोग से ऊब गया हूं समस्त इच्छाएं पूर्ण होगई है। अब मेरे मालिक तैने दिया और खूब दिया। दानों का तो जिकर ही क्या है तेरी दी हुई बुद्धि भी तेरे इन अहसानों की कल्पना में समर्थ नहीं है परन्तु क्या इनका अधिक भोग करने से मेरी रुचि हो भागी गई है मैं सत्य कहता हूं मेरे हृदय में इन भोगों की कुछ लालसा शेष नहीं रही है। मैं इन भोगों को स्वयं भी भोगना बन्द कर सकता हूं परन्तु मेरे मालिक मुझे इस बात का बड़ा खयाल है इसमें कहीं तेरा अपमान न होजावे। जो कुछ तेरी मरज़ी से मुझे मिला है उसे मैं बिना तेरी मरज़ी के कैसे इनकार करूं। तेरी मरज़ी के बिना मैं कुछ भी करना पसन्द नहीं करता जिस प्रेम भाव से तैने मुझ पर वर्षा की है उस प्रेम भाव के बदले में मैं शुष्क इनकार कैसे करूं इसलिए मेरे दयालु, कृपालु और प्रेम के पुञ्ज भगवान् मेरी, तू मेरी इस इच्छा को पूर्ण कर और अपने दिए हुए सब भोग मुझ से ले ले और भविष्य में मेरे पास कोई भोग न भेज इस उपकार के बदले मैं तेरा अत्यन्त ऋणी व आभारी हूंगा। जितना अहसान तेरे देने पर मैंने माना था उससे बहुत अधिक अहसान तेरे वापिस ले लेने पर मानूंगा। हे मालिक! मेरा बोझ हलका करदे। तेरा दिया हुआ तोफा गुलामी और सेवक के रूप में होता तो इनकार करने में मुझे अधिक हिचकचाट न होती और यदि यह दात माता और पुत्र के प्रेम के रूप में होती तो भी मैं अधिक सोच विचार न करता मैं पुत्र भाव चिन्तन से एक पुत्र का शब्द "माता मैं नहीं लेता" कह कर उन्हें वापिस कर देता परन्तु तेरा प्रेम तो उस पीतल की भान्ति है जो खोटी पूरा के साथ होता है इसलिए इसमें मैं अपनी मरज़ी कुछ भी नहीं चला सकता। भला तेरी मरज़ी के खिलाफ मुझ से कुछ हो सकता है अनुनय, विनय करने और तेरी रज़ा हासिल करने के सिवाय मुझे तो और कुछ करना ही नहीं है। अब मेरे माबूद! अब इन नेमतों को मेरे पास न भेज। अब मुझे इसकी चाह नहीं है। तूने मेरे प्यार से तंग आकर अथवा अपना पीछा छुड़ाने के लिए मुझे अपनी माया के खिलौनों में फंसा दिया। और अब भूल कर भी मुझको कभी याद नहीं करता। हे प्रभु दया कर और मुझको इस जंजाल से निकाल कर अपनी गोद में बिठाले

योग-साधन

[ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती]

३१४ विवेकी स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं समझता। वही तत्व और भाव, क्रोध, लालच, मोह आदि जो कि पुरुष में विद्यमान है वही स्त्री

जाति में भी होते हैं। जो कामी पुरुष होते हैं वह अपनी काम वासना के कारण कुछ भेद देखते हैं। यह सब मन के भेद हैं।

३१५ स्त्री का शरीर हड्डी, चरबी और मांस के पुञ्ज के सिवाय और क्या है? यदि इस दृश्य को तुम अपने भाव में रक्खो तो तुमको वैराग्य उत्पन्न होगा। मनुष्य शरीर की रचना में ३०८ हड्डियाँ हैं।

३१६ आत्मा ज्ञान स्वरूप है। जिस तरह यह शरीर मांस का बना हुआ है उसी तरह आत्मा ज्ञान, प्रकाश और आनन्द का बना हुआ है। आत्मा को सुख-स्वरूप समझो या आनन्द-स्वरूप ज्ञान और आनन्द आत्मा से पृथक् नहीं है।

३१७ तुम को अपने भजन, ध्यान, जप प्राणायाम, स्वाध्याय और अन्य आध्यात्मिक साधन नियम पूर्वक और विधी से करने चाहिएं। इनमें व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऐसा करोगे तो तुमको बहुत जल्दी और निश्चय रूप से लाभ प्राप्त होगा। कभी कभी करना व्यर्थ है और निष्फल है।

३१८ गर्भोपनिषद् का स्वाध्याय करना चाहिए जिसमें गर्भ की उत्पत्ति का विषय है। इसमें उन कष्टों का विस्तार से वर्णन है जो जीव को गर्भाशय में भोगने पड़ते हैं। इसके स्वाध्याय से वैराग्य बढ़ेगा। पदार्थों में दोष दृष्टि रक्खो और संसार को मिथ्या समझो, इससे भी वैराग्य की भावना बढ़ेगी। साधु महात्मा और संन्यासियों का संग करो यह भी वैराग्य का एक साधन है।

३१९ गरुड़ पुराण और आत्म पुराण में लिखा है कि मृत्यु का दुःख ७२ हज़ार बिच्छु काटने के बराबर है। यह केवल भय दिलाने के लिए भयानक भाव है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है सुनने और पढ़ने वाले इस भाव से डर कर मोक्ष साधन का प्रयत्न करें। जिन्होंने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है उन सबका यह निश्चय मत है कि मृत्यु में किंचित् भी दुःख नहीं है। वह स्पष्ट रूप से यह बात कहते हैं कि जब हमारा आत्मा इस शरीर से पृथक् हुआ तो हमने बड़े आनन्द का अनुभव किया और इस पार्थिव शरीर का बोझ हलका होने से पूर्ण शान्ति प्राप्त हुई। माया बाह्य दृष्टि रखने वाले के चित्त में मिथ्या भय उत्पन्न कर देती है और जीव को स्थूल शरीर के त्याग भाव से क्लेश-युक्त कष्ट सा होने लगता है।

३२० वामदेव, अष्टावक्र और शुकदेव जी को माता के गर्भ में ही ज्ञान हो गया था। यह सब योग भ्रष्ट पुरुष थे (जिनके योग-साधन में किसी प्रकार की त्रुटि रह गई थी) यह जन्म से ही सिद्ध और पूर्ण महात्मा थे। पतञ्जली महर्षि इनको अपने राज-योग सूत्रों में भाव प्रत्यय की उपाधि देते हैं।

३२१ नमस्कार का प्रयोजन भाव सहित शरीर को भगवान् के समक्ष झुकाना है। इस साधन से आत्म साक्षात्कार में बहुत सहायता मिलती है। भगवान कृष्ण ने उद्धव जी से कहा था "सब में मेरा ही रूप देखो" जो भी तुम्हारे सामने आवे उसी को साष्टांग प्रणाम करो। इसका कुछ खयाल न करो कि यह आदमी है या गधा और कुत्ता है। इस साधन के द्वारा तुमको जल्दी ही असानी से निश्चय तौर पर आत्म साक्षात् होगा। गधे में भी परमात्मा ही विराजमान है। यदि गधे को प्रणाम करने में तुमको लोक लाज का भय है तो भाव से ही प्रणाम करो।

३२२ साष्टांग प्रणाम करने में छ लाभ हैं परन्तु यह कर्म कवायद या व्यायाम की तरह न करो वरंन नम्रता पूर्वक भाव सहित करो। चित्त में यह अनुभव करो कि मैं भगवान नारायण या शिव

को प्रणाम कर रहा हूं। यह प्रणाम पूर्ण साष्टांग दण्डवत् के रूप में होना चाहिए। प्रणाम में शरीर के ६ अङ्ग घुटने, माथा, कन्धे, पांव, छाती और आंखें पृथ्वी पर लगनी चाहिए। इस से अहंकार दूर होगा और नम्रता का उदय होगा और समदृष्टि प्राप्त होगी। इस कर्म से हृदय में भक्ति का संचार होगा जिससे आत्म-साक्षात्कार होगा। तुम जिनको प्रणाम करते हो उनके पांव अवश्य छूने चाहिएं चाहे वह लोग मुसलमान, ईसाई या चाण्डाल हों। इससे तुम्हारी घृणा कम हो जावेगी और स्वभाव से द्वेष निकल जावेगा। नीच ऊंच का भाव विदा हो जावेगा। वह पुरुष धन्य है जो सबको प्रणाम करता है। वह शीघ्र ही भगवान तुल्य हो जाता है।

३२३ यदि तुमको कोई भिखारी फटे कपड़ों में मिल जावे तो उसे प्रणाम करो। दोनों हाथ जोड़ कर उसके सामने शिर झुकाओ चाहे वह पुरुष कितना भी कुरूप हो। सब रूप उस भगवान ही के हैं।

३२४ योगीराज कृष्ण परमहंस देव ने दौड़ कर बाजार में एक नीच जाति की लड़की को साष्टांग दण्डवत् किया और उच्च स्वर से कहा "ओ माता काली मैं तेरा रूप इस लड़की में देख रहा हूं। तू निश्चय रूप से यही है।

३२५ पवहारी बाबा जो राम कृष्ण परमहंस के समकालीन थे एक चोर को दण्डवत करके अपने पात्रों का बैग उसको देने लगे और बोले "ओ नारायण मुझे पता नहीं था कि तुम मेरी कुटिया में पधारे हो कृपा करके इन पात्रों को स्वीकार कीजिए। भाग न जाइए यह पात्र आप ही के हैं।" चोर उनके चरणों से लिपट गया और चोरी का स्वभाव छोड़ कर सन्त महात्मा बन गया। पवहारी बाबा ने उसको आत्मज्ञान की शिक्षा दी। यह सन्त स्वामी विवेकानन्द को हिमालय में मिला था।

३२६ इस आश्चर्य पर ध्यान दो कि वामदेव ने जब कि वह अपनी माता के गर्भ में ६ मास ही का था आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया। तुमको इस ऋषि का नाम याद रखना चाहिए। इससे तुमको प्रोत्साहन मिलेगा और तुम्हारा आत्मिक बल बढ़ेगा।

३२७ आत्मा प्रकाश है जिससे मन व इन्द्रियों को प्रकाश मिलता है। इसलिए इन्द्रियां और मन आत्मा को समझने में असमर्थ हैं। तुम आत्मा को साक्षात्कार करके या ब्रह्म अनुभव द्वारा प्राप्त कर सकते हो।

३२८ बिच्छू की पूंछ में डंक होता है और काले सांप के काटे जहरीले होते हैं, मच्छर की सूंड में जहर होता है और झूठ बोलने वाले बनिए की जिह्वा में जहर होता है। स्त्री की आंखों में ज़हर होता है, उसकी आंखों में विष के भरे हुए बाण होते हैं, उसकी आंखों में विद्युत सन्देश मन्त्र भी होता है। वह इस मन्त्र द्वारा कामी युवकों के पास काम सन्देश भेजती है और विषय भरे बाणों द्वारा जो कि उसकी कटीली आंखों से निकलते हैं उनके हृदयों को छेद कर देती है। वह विवेकी पुरुष का कुछ नहीं बिगाड़ सकती क्योंकि वह सदैव सावधान रहता है और उसके दोषों पर दृष्टि रखता है। वह आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को भी अच्छी तरह जानता है।

३२९ काम और क्रोध ब्रह्म की शक्तियां हैं। यही कारण है कि वह त्रिगुणातीत और अजय हैं परन्तु विवेक द्वारा उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है कारण विवेक ब्रह्म की उनसे भी श्रेष्ठ शक्ति है। जिसके मन में एक बार विवेक का सूर्य उदय हो गया है वह धीरे २ काम पर विजय प्राप्त कर लेता है और उसको शनैः शनैः चित्त को

शान्ति मिल जाती है।

३३० सब जगह परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव करो और सदैव उसकी सान्निध्यता को आत्मसात करो। यह समझो कि परमात्मा हमारे साथ २ फिरता है। उसको सदैव याद रक्खो। उसमें निवास करो। अधिक पुस्तकें पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। गुरु की तलाश में फिरने की जरूरत नहीं है। बारह घण्टे शीर्षासन के बल खड़े रहने या तीन घण्टे कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए अश्वनी मुद्रा करने की भी जरूरत नहीं है। मैंने तुमको सब साधनों का तत्व बतला दिया है। यही सब वेदों का सार है। इसका अभ्यास करो, अभ्यास करो और मेरा विश्वास करो, विश्वास करो। इससे तुम मुक्त हो जावोगे मैं इसका विश्वास दिलाता हूँ।

३३१ ओ३म् में निवास करो क्योंकि उपाधियों को छोड़ देने पर तुम आत्मा हो। माया से रिक्त होने पर तुम ब्रह्म हो। माया के पर्दों को फाड़ डालो। मन, इन्द्रिय, वासना और अहंकार के पर्दे हैं इनको दूर करदो। आत्मा अपने स्वरूप में आप प्रकाशित होता है।

३३२ ओ३म् का उच्चारण करो, ओ३म् का जप करो और ओ३म् का गान करो। राम २ की रटन लगाओ नास्तिकों तुम कचड़े में पड़े हुए हो। प्रयत्न करके पर्दे को फाड़ डालो यह रामबाण ओषधि है। यह जीवन और मृत्यु की सर्व रोग नाशक औषधि है। ओ३म् का पान करो यह अमृत है।

३३३ संसार स्वप्न है, यह रज्जु में सर्प दृष्टि गोचर हो रहा है। यह माया का जाल है इससे सावधान रहो।

३३४ अपने ध्यान के कमरे में एकान्त में शांति से बैठ कर राम या ओ३म् का उच्चारण करो। उसके सानिध्य में जावो। वह तुम्हारी आँखों में चमकता है और दिल में धड़कता है। वह तुम्हारी आँख, पपोटे और पलकें बनकर तुम्हारी आँख की रक्षा कर रहा है। वह मन की इच्छित का ड्राइविंग है, मेरे प्यारे कृष्ण बिहारीलाल उसको सदैव याद रक्खो। मौन आत्मा है, हृदय आत्मा है, केन्द्र आत्मा है। नाम का ख्याल न करो यह सब माया का शब्द जाल है। माया के दाव पेंचों को समझो, माया के तर्कों को जानो वह तुमको आप पथ दिखला देगी। उसका विश्वास करो।

३३५ ब्रह्म में परिणाम या तबदीली किस तरह सम्भव है? ब्रह्म का अर्थ है पूर्ण महान और एक दूध का दही बन जाता है यह परिणाम हुआ। परिणाम केवल सावयव पदार्थ में सम्भव है। सावयव ऐसे समझो जैसे शरीर के अङ्ग हाथ पांव आदि हैं। ब्रह्म निरवयव है, ब्रह्म में कोई परिणाम या तबदीली नहीं है। इसको बहुत अच्छी तरह समझलो, इसके ठीक ठीक समझने पर चित्त के अनेक क्लेश और फिक्र मिट जावेंगे।

श्रुति-सार

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति

जो विवेक रहित मन के पीछे चलने वाला सदा पवित्र होता है वह उस शान्त पद को नहीं प्राप्त होता किन्तु जन्म मरण के प्रवाह को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाऽशुचिः स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

और जो विवेक सम्पन्न मन को जीतने वाला निरन्तर शुद्ध भाव युक्त होता है वह तो उस आनन्द पद को प्राप्त होता है जिससे फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्

जो मनुष्य विवेक सारथि वाला एवं मन की लगाम का रोकने वाला है वह मार्ग के पार विष्णु के सर्वोत्कृष्ट उस पद को प्राप्त होता है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः

इन्द्रियों से निश्चय विषय सूक्ष्म है और विषयों से मन सूक्ष्म है तथा मन से बुद्धि सूक्ष्म है बुद्धि से महतत्व सूक्ष्म है ॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः

महतत्व से अव्याकृत प्रकृति सूक्ष्म है अव्यक्त प्रकृति से पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म है। पुरुष से सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। वही स्थिति की सीमा वही अन्तिम अवधि है ॥ ११ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

उठो! जागो श्रेष्ठ गुरुओं को प्राप्त होकर जानो, तीक्ष्ण, अति कठिन छुरे की धारा के समान कवि लोग उस मार्ग को दुःख से प्राप्त होने योग्य कहते हैं ॥ १४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यमन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते

ब्रह्म, शब्द नहीं जो कान से जाना जावे, स्पर्श नहीं जो त्वचा से ग्रहण किया जावे, रूप नहीं जो चक्षु का विषय हो तथा रस नहीं जो रसना का विषय हो और गन्ध वाला नहीं जो घ्राण गम्य हो, अतएव वह अविनाशी, सदा एक रस, अनुत्पन्न, सीमा रहित, महतत्व से भी सूक्ष्म अचल है उस को सम्यक् जान कर मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५ ॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तंसनातनम्। उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

नचिकेता से ग्रहण किये गये, मृत्यु से उपदेश दिये गये, प्राचीन आख्यान को कह कर, सुन कर भी विवेकी पुरुष ब्रह्म लोक में बड़ाई को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

इति तृतीया वल्ली।

अथ पंचमी वल्ली।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

जैसे एक ही अग्नि लोक में व्याप्त हुआ प्रत्येक रूपवान वस्तु के तुल्य रूप वाला हो रहा है वैसे ही एक सब का अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक वस्तु के तुल्य रूप वाला प्रतीत होता है किन्तु उनके रूपादि धर्मों से वह पृथक् है ॥ ९ ॥

सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

जैसे सूर्य समग्र संसार की आंख है पर चक्षु-

सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता वैसे ही सर्व भूतान्तर आत्मा उनसे अलग संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

भजन

यदुपति देखि सुदामा आये ॥ टेक ॥
बिह्वल बिकल छीन दारिद्रवश।
करि प्रलाप रुक्मिणि समुझाये ॥
दृष्टि परे ते दिये संभाषण।
भुजा पसारि अंक लै आये ॥
तंदुल देख बहुत दुख उपज्या।
मांगु सुदामा जो मन भाये ॥
भोजन करत गह्यो सर रुक्मिणि।
सोइ देहु जो मन न डुलावै ॥
सूरदास प्रभु नव निधि दाता।
आपर कृपा सोइ जन पावै ॥

२

गुरुगृह जब हम बन को जात ॥ टेक ॥
तुरत हमारे बदले लकरी ये सब दुख निजगात।
एक दिवस घर्षा भई बन में रहगये ताही ठौर ॥
इनकी कृपा भयोनाहिं मोहिं श्रम गुरु आये भय भोर।
सो दिनमोहि बिसरत न सुदामा जो कीन्हों उपकार ॥
प्रतिउपकार कहा करौं सूरअब भाषत आप मुरार।

३

हरिको मिलन सुदामा आयो ॥ टेक ॥
बिधि करि अरघ पांवड़े दीने अंतर प्रेम बढ़ायो ॥
आदर बहुत किया यादवपति मर्दन करि अन्हवायो ॥
चोवा चंदन अगर कुमकुमा परिमल अंग चढ़ायो ॥
पूरब जन्म अदात जानिके तातें कछु मंगायो ॥
मूठिक तंदुल बांधि कृष्ण को बनिता बिनय पठायो ॥
समदै बिप सुदामा घर को सर्वसु दै पहुंचायो ॥
सूरदास बलि बलि मोहन की तिहुं लोक पदपायो ॥

४

सुदामा गृह को गमन कियो ॥ टेक ॥
प्रगट बिप्र को कछु न जनायो मन में बहुत दियो ॥
वोई चीर कुचील वोई बिधि मोको कहा कियो ॥
धरिहौं कहा जाइ त्रिय आगे भरि भरि लेत हियो ॥
भयो संतोस भाव मनहीं मन आदर बहुत कियो ॥
सूरदास कीन्हें करनी बिन कोपति आइ बियो ॥

५

सुदामा मंदिर देखि डरयो ॥ टेक ॥
शीश धुनै दंऊ कर मींड़ै अंतर सांच परयो ॥
ठाढ़ी त्रिया मार्ग जो जोवै ऊंचे चरण धरयो ॥
तोहिं आदरयो त्रिभुवन को नायक अबकयों जात फिरयो
इहां हुती मरी तनक मड़ैया को नृप आन छरयो ॥
सूरदास प्रभु करि यह लीला आपद बिप हरयो ॥

६

कहा भयो मेरो गृह माटी को ॥ टेक ॥
हौं तो गयो गुपालहि भेंटन,
और सच तंदुल गांठी को ॥
बिनु ग्रीवा कल सुभग न आन्यो,
हुतो कमंडलु दृढ़ काठी को ॥
घुनो बांस गत बुन्यो खटोला,
काहू को पलंग कनक पाटी को ॥
नौतन पीरे दिकुयुगतापै,
भूषण हुतै न लेहु माटी को ॥
सूरदास प्रभु कहा निहारौं,
मानतु रंक त्रास टाटी को ॥

७

नैना भये अनाथ हमारे ॥ टेक ॥
मदनगोपाल वहां ते सजनी सुनियत दूरि सिधारे ॥
वै जलहर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं निनारे ॥

हम चातक चकोर श्यामघन बदन सुधानिधि प्यारे ॥
मधुबन बसत आस दरशन की जें हैं नैन मतवारे ॥
सूर श्याम करी पिय ऐसी मूलकहूते पुनि मारे ॥

८

रुक्मिणि बूझत हैं गोपलहिं ॥ टेक ॥
कहँ बात अपने गोकुल की केहरि प्रति व्रजबास हैं ॥
कहाँ देखि रंभे राधा सों चंचल नैन विशालहिं ॥
कब तुम गाय चरावन जाते उरधर ते वनमालहिं ॥
इतनी सुनत नैन भरि आये प्रेमनंद के लालहिं ॥
सूरदास प्रभु रहे मौनहूं ये बात अनिचालहिं ॥

९

दामिनी दमक सुर चाप की चमक स्याम,
घटा की घमक अति घोर घन घोर ते।
कोकिला कलापी कल कूजन है जित तित,
सीतल है शीतल समीर झकझोर ते ॥
सेनापति आवन कह्यो है मनभावन,
लगो है तरसावन बिरह जुर जोर ते ॥
आयो सखी सावन बिरह सरसावन,
सु लगो बरसावन सलल चहुं ओर ते ॥
दृगि जदुराई सेनापति सुखदाई देखे',
आई रितु पावस न पाई प्रेमपतियाँ ॥
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी सुदरकी,
सोहागिनी की छोह भरी छतियाँ ॥
आई सुधि घर की हिय में आनि खरकी सु मरि,
प्रनप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ ॥
बीतो अधिक भावन को लाल मन भावन का,
उग भई पावन की सावन की रतियाँ ॥

१०

ये दरदी तें हे दरद न आवे ॥ टेक ॥
चितवन में चित वश कर मेरी,
अब काहे को नैन चुरावे ॥ १ ॥
कब से खड़ी द्वार तेरे पै,
बिन देखे जियरा घबरावे ॥ २ ॥
"नारायण" मतबूब साँवरो,
घायल कर अब गैल बतावे ॥ ३ ॥

११

भजन सम साधन नहिं कोई ॥ टेक ॥
याते चित्त प्रसाद लहे जब मन निश्चल होई ॥ १ ॥
मनते विषय रस में फंसके आयु क्यों खोई ॥ २ ॥
हरि प्रसन्न भजन ते होवे रहस नहिं कोई ॥ ३ ॥
जाते भजन बेल अति पावन हृदय क्षेत्र बोई ॥ ४ ॥
निसन्देह विपाक काल लहे मुक्ति फल सोई ॥ ५ ॥
मल विक्षेप अज्ञान तीनों ही भजन देवे धोई ॥ ६ ॥
निर्मल मन तू महर हरि भजपरम सिद्धि होई ॥ ७ ॥

१२

अंखियां लगी साँवरिया प्यारे सों ॥ टेक ॥
अब बरजो बरजी नहि मानो,
अब क्या होत पुकारे सों ॥ १ ॥
मोर मुकुट मकरा कृत कुण्डल,
लग रही साझ सवारे सों ॥ २ ॥
मधुर अली दरशन बिन तरसत,
नेह लगा बंशी वारे सों ॥ ३ ॥

१३

मिलना बे मन बुध बिहारी ॥ टेक ॥
भोर भये वृन्दावन कुंजन,
जाना होकर गली हमारी ॥ १ ॥
मृदु मुसकान सानू दिलबिच मांही,
झमक चलन नूपुर धुन प्यारी ॥ २ ॥
ललित किशोरी सांवरी सूरत,
घुंघरी अलकों पर बलिहारी ॥ ३ ॥